समकित सावन

[आध्यात्मिक कथा संग्रह]

लेखक :

पण्डित राजकुमार "शास्त्री"

मु.—मौ, जिला-भिण्ड (म. प्र.)

सम्पादक :

विनोद 'चिन्मय' शास्त्री

साहित्यरत्न, धर्मविशारद; धर्मरत्न;

धर्मालङ्कार, जैनदर्शनाचार्य, विदिशा (म. प्र.)

प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान स्मृति प्रकाशन ट्रस्ट, विदिशा

श्री कुन्दकुन्द-कहान स्मृति प्रकाशन का पंचम पुष्प

प्रथमावृति : १०,०००

१ फरवरी १९८६

मूल्य : दो रुपये पच्चीस पैसे

प्राप्ति स्थान —

(१) कुन्दकुन्द-कहान स्मृति प्रकाशन ट्रस्ट
ज्ञानानन्द निवास, किला अन्दर
विदिशा (म प्र) ४६४००१

(२) पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए—४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

(३) वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
बाल भवन डॉ. नन्दलाल मार्ग,
पुरानी मंडी, अजमेर ३०५ ००१

मुद्रक : स्वस्तिक प्रिण्टर्स, हाथी भाटा, अजमेर।

समर्पित

अध्यात्म विभूति
स्व. श्री बाबूभाई मेहता को
जिन्होंने
मिथ्यात्म की तपती धरा पर
तपते/तडपते भव्य प्राणियों को
शुष्क क्रिया काण्ड की लू से
सजग कर/सचेत कर
'समकित सावन" का
मंगलमय मौसम निर्मित करने में
सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया

"राजकुमार"

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की पुण्य स्मृति में आयोजित भगवान शीतलनाथ तीर्थयात्रा संघ के पूर्व दिनाक ३० सितम्बर १९८१ को विदिशा में देश के प्रख्यात विद्वान वाणीभूषण पण्डित ज्ञानचन्द्रजी का एक अखिल भारतीय स्तर पर अभिनदन किया गया था। उनके सम्मान में भेट स्वरूप दी गई एक लाख रुपये की थैली, जो कि एक सौ इक्यावन रुपये मिलाकर उन्होंने उसी समय धर्मरत्न पण्डित बाबूभाई मेहता को अर्पित कर दी थी। इसी समय आरणीय श्री बाबू भाई जी ने उनकी भावनानुसार "श्री कुन्दकुन्द-कहान स्मृति प्रकाशन ट्रस्ट" की घोषणा की। इसी ट्रस्ट का यह पचम पुष्प "समकित सावन" प्रकाशित करते हुए हमे अपार प्रसन्नता हो रही है।

यहा यह उल्लेखनीय है कि इसके पूर्व "जिनेन्द्र अर्चना", "भक्ति लहर" और "ममता का विष" यह तीन पुष्प विनोद 'चिन्मय' शास्त्री, साहित्य-रत्न, जैनदर्शनाचार्य द्वारा तथा प. राजकुमारजी शास्त्री द्वारा लिखित "विराग वाटिका" नामक चतुर्थ पुष्प १० हजार की मात्रा मे प्रकाशित होने पर भी उपलब्ध नही है। समाज की माग देखते हुए शीघ्र ही पुनः प्रकाशन का भी विचार है।

आध्यात्मिक पौराणिक कथा-कहानियो के माध्यम से ज्ञान वैराग्य और सदाचार की प्रेरणा देने वाले सत्साहित्य की आज सम्पूर्ण जैन समाज में अत्यावश्यकता है। वर्तमान समय की इस आवश्यकता को देखते हुए ट्रस्ट ने इस प्रकार के सत्साहित्य को अपना प्रमुख उद्देश्य बनाया है।

हम इस समय होनहार विद्वान लेखक पण्डित राजकुमारजी शास्त्री को याद किये बिना नही रहेंगे जिन्होने "विराग वाटिका" के बाद बडी मेहनत, लगन और जिम्मेदारी के साथ 'समकित सावन" का सुन्दर उपहार सम्पूर्ण समाज को प्रदान किया।

पुस्तक के सुन्दर सम्पादन मे विनोद "चिन्मय" शास्त्री और पुस्तक प्रकाशन मे ब. मुकेश "तन्मय" शास्त्री ने जो कठोर श्रम व अपना समय दिया उसके लिए दोनो अनुज का मैं हृदय से आभारी हू।

पुस्तक प्रकाशन की कीमत कम करने हेतु जिन महानुभावो ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया उनके भी हम आभारी हैं। भवदीय

बाबूलाल जैन एडवोकेट

मत्री, श्री कुन्दकुन्द कहान स्मृति प्रकाशन ट्रस्ट विदिशा (म प्र)

अपनी बात

साहित्य जगत में कथा साहित्य का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। कथा-कहानियों के माध्यम से जहाँ एक ओर धर्म के प्रति रुचि बढ़ती है वहीं दूसरी ओर अध्यात्म की गहराई में उतरने का मौका मिलता है। साथ ही ज्ञान वैराग्यमय जीवन जीने की प्रेरणा भी प्राप्त होती है।

पौराणिक कथा कहानियों का सहारा लेकर अध्यात्म अमृत का पान कराना यही मेरा उद्देश्य रहा है।

"विराग-वाटिका और समकित सावन" नामक इस पुस्तक के लिखने के पीछे भी यही उद्देश्य रहा है कि इन कथा कहानियों के पढ़ने से मुख्यतः दो प्रकार के लाभ प्राप्त हों- एक तो पुराण पुरुषो के आदर्श जीवन का अध्ययन और दूसरा तत्वज्ञान तथा अध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तो का ज्ञान।

सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठ अगों में प्रसिद्ध आठ कहानियों को अध्यात्म सुरभि से सुरभित किया गया है। साथ ही सम्यग्दर्शन के सम्यक स्वरूप का सामान्य अवलोकन हेतु "सम्यक्त्व चर्चा" नामक सक्षिप्त प्रकरण भी लाभकारी जानते हुए पुस्तक के अन्त मे दिया गया है।

इस पवित्र कार्य के प्रारम्भ मे जीवन शिल्पी पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के उपकार को विस्मृत नही कर सकता जिनके द्वारा जीवन जीने की कला मिली। इसके साथ ही आदरणीय श्री बाबूभाई जी मेहता, डॉ हुकमचंद जी भारिल्ल और श्री 'युगल' जी को याद किये बिना नहीं रहूगा जिनका मगल मार्गदर्शन समय-समय पर हमे प्राप्त होता रहता हैं।

साथ ही साथ आदरणीय बाबूजी पण्डित ज्ञानचद्रजी को भी याद किये बिना नही रहूगा जिनकी सतत् प्रेरणा और पवित्र भावना के परिणाम स्वरूप यह सब कुछ हुआ है। इसमे संवेगी श्री केशरीचद धवल का भी पूर्ण सहयोग और मार्गदर्शन रहा है।

प्रचुर स्व संवेदन का परमानन्द लेने वाले बनवासी दिगम्बर सन्तों द्वारा रचित कथानुयोग का अवलम्बन लेकर ज्ञान वैराग्यमय अध्यात्मिक रूप जो कुछ भी बन पड़ा हैं आप के सामने है आशा है पाठक गण विराग-वाटिका वत् इसको भी पसद करेंगे।

पुराण पुरुषो का पवित्र जीवन चरित्र हमारे जीवन को भी पवित्र करने मे निमित भूत हो और हम सभी शीघ्र ही परम पवित्र दशा को प्राप्त हो जाए इसी पवित्र भावना के साथ ....

– राजकुमार 'शास्त्री'

सम्पादकीय

वर्तमान समय मे सम्पूर्ण जैन समाज का जब हम सामान्य अवलोकन करते हैं तो अनुभव करते हैं कि वह भी प्रत्येक क्षेत्र मे तरक्की कर रही है भौतिक चकाचौंध और पश्चिमी सभ्यता के स्टेण्डर्ड का जादू उसके सिर पर भी चढ़कर बोल उठा है।

अनादिकालीन काम भोग सम्बधी गहरे सस्कार होने से ससारी प्राणी को उसके ही पोषण करने वाले भौतिक साधन सुन्दर और सुखमयी लगते है। आज अधिकाशतः देखा जाता है कि—आबाल वृद्ध सभी को समयसार, मोक्षमार्ग प्रकाशक अथवा तो पद्मपुराण, हरिवश पुराण वीतरागी शास्त्र के स्वाध्याय में रस नही आता है, जितना कि जासूसी उपन्यास मनोहर कहानिया, सत्यकथा अथवा तो फिल्मी पुस्तको मे रस आता है। ऐसी विकट परिस्थिति मे छोटी-छोटी आध्यात्मिक पौराणिक कथा-कहानियो का महत्व बढ़ जाता है जिनमे पुराण पुरुषो के महान जीवन चरित्र के साथ-साथ अध्यात्म अमृत का रसस्वादन भी हो सके।

सम्यक्त्व के निःशकित आदि आठ अगों की आठ प्रसिद्ध कथाओ को विद्वान लेखक ने ज्ञान वैराग्य की कलम से लिखकर अध्यात्म अमृत का पान आबाल गोपाल सभी को कराया है।

कहानियो के मध्य आई आध्यात्मिक शिक्षाओ को मोटे (BOLD) टाइप मे छापा गया है। तथा प्रत्येक कहानी मे एक-एक चित्र भी दिया गया है जिससे कहानो की भावानुगमिता और भी अधिक बढ गई है। इसी के साथ-साथ सम्पूर्ण कहानो को पढने के बाद हमे कहानी से क्या शिक्षा प्राप्त करना चाहिए इसके लिए निष्कर्ष रूप मे प्रत्येक कहानी के अत में कथा-सार दिया गया है। सभी जीव जीवन जीने की सम्यक कला को सीखकर शीघ्र ही सुख शान्ति प्राप्त करे इसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

विनोद "चिन्मय"

विदिशा, ३० जनवरी १९८६

॥ कथा द्वार ॥

सावन !

कैसा है सावन ?

समकित का सावन,

अपूर्व है सावन ।

जीवन की यात्रा मे आज तक अनेकों बार जो सावन मिले हैं, वे सब काम-भोग-बन्धन की कथामय, ससार-शरीर-भोगो में फसाने वाले ही सावन थे । ससार शरीर-भोगो की प्रियता को प्रसिद्ध करने वाले सावन सयोगों से सबधित सावन थे । वे सब जोड़-तोड़ के हर्ष विषाद के क्षणभगुर सयोगो को ही चूमने वाले सावन, स्वप्न के समान सुन्दर लगने वाले, प्रथम मिलन मे अति मीठे और अन्त मे भयकर कड़वे विष के समान थे ।

अहो ! सर्व सयोगो मे नाच नचाने वाले सावन अरि समान हैं । संयोगो मे सुन्दरता की कल्पना करने वाले सावन वासना को ही पल्ल--वित करने वाले होते हैं ।

अपने शुद्धत्व बुद्धत्व का पैगाम सुनाने वाला जीवन जागरणमय 'समकित सावन' का यह अपूर्व मिलन ही व्यक्ति को 'अंजन से निरंजन' बनाता है । समस्त 'कांक्षाओ के पार' पहुंचाता है । देहाश्रित अनित्य पर्याय मलिनता से अत्यन्त भिन्न ज्ञायक आत्मा का चैतन्यमय "सच्चा सौन्दर्य" दिखाता है । इस अतिशय से ही समकिती के मन में सदा ही 'अचलित विश्वास' का निवास रहता है । उसकी सम्पूर्ण जीवन शाला ही 'धर्मी का अवगुंठन' बन जाती है तब उसके 'फिसलते चरण' को सम्भालने की भावना मे 'व्योम-सा वात्सल्य' पाया जाता है । उसके मन मे किसी भी सीमा का व्यामोह नही रहता, यही जीवन में चैतन्य के 'प्रभावना की प्रभा' है ।

यह सब कुछ 'समकित-सावन' के मिलन की मगलमय देन है ।

सवेगी केशरीचंद 'धवल'
दि जैन उदासीना आश्रम
तुकोगज, इन्दौर (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

१. अंजन से निरञ्जन

तत्व यही है, ऐसा ही है, नहीं और नहिं और प्रकार।
जिनकी सन्मारग में रुचि हो, ऐसी मानो खड्ग की धार॥
है सम्यक्त्व अंग यह पहला, 'निःशंकित' है इसका नाम।
इसके धारण करने से ही, 'अंजनचोर' हुआ सुखधाम॥

मगधदेश के मध्य राजगृह संज्ञक नगर है, उसमें उत्कृष्ट धर्माचरणालंकृत, जिनपाद पंकज अनुगामी, करुणार्द्र-हृदय, ध्यान स्वाध्यायादि क्रियाओं मे निरत जिनदत्त नामक श्रेष्ठी निवास करते थे।

एक दिन जिनदत्त चतुर्दशी की मध्य रात्रि के समय श्मशान भूमि में जब सारा वातावरण निस्तब्ध था और सारा जगत भोगों में रच-पच कर सन्नाटा ले रहा था, तब वह निर्विकल्प चैतन्य-विहारी धर्मश्रेष्ठी सुमेरुवत् निश्चल होकर वहां कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान कर रहे थे।

"अहो! जब सारा जगत मोह की प्रगाढ निद्रा में सोता हुआ शिवमार्ग के निष्कंटक पथ में विषकंटक बोता है तब ज्ञानी जागकर मुक्ति के मार्ग में निःशंक विहार करते हुए अपने भवबंधन की कड़ियां तोड़ते हैं।"

उसी समय अमितप्रभ और विद्युतप्रभ नाम के देव अपने-अपने धर्म की महिमा गाते हुए एक दूसरे के धर्म की परीक्षा करने चल दिये। अमितप्रभ जिनधर्म का विश्वासी था, एवं विद्युतप्रभ अन्य मत का श्रद्धानी था। चलते-चलते उन्हें रास्ते में एक तापसी

पचाग्नि तप तपता हुआ दिखाई दिया उन्होंने उसकी परीक्षा लेनी चाही और उस पर परीक्षा लेने के लिये उपसर्ग करने लगे तो वह तापसी थोड़ी ही देर मे तप छोडकर वहा से भाग गया।

जब वह आगे चले तो सेठ जिनदत्त श्मशान भूमि मे ध्यानस्थ नजर आये। तब जिनभक्त देव अपने साथी से कहने लगा-"मित्र उत्कृष्ट चारित्र के धारी वीतरागी सन्तों की बात तो दूर रही यदि अपने में कुछ सामर्थ्य रखते हो तो इस गृहस्थ जिनधर्मी श्रावक को ही अपने ध्यान से चलायमान करके देखो। यदि तुम इन्हे चलायमान कर दोगे तो मै निष्पक्ष होकर तुम्हारे वचन को स्वीकार कर लूंगा।

"जिसके भय से चलायमान होते हुए तीनों लोक कांप उठते हैं, और अपने मार्ग को छोड़ देते है, ऐसा वज्रपात होने पर भी निःशंक और निर्भय जिनधर्मी अपने मार्ग से चलायमान नहीं होते एवं समस्त शंकाओं से निर्मुक्त अपने ज्ञानस्वरूप में ही निश्चल रहते हैं।"

अमितप्रभ के उत्तेजनात्मक वचनो को सुनकर विद्युतप्रभ ने जिनदत्त पर अत्यत दुस्सह और भयानक उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। पर वह प्रचड पवन के वेग मे निश्चल सुमेरु पर्वत की तरह स्थित, उन्हे अपने नि शक स्वभाव से रंचमात्र भी विचलित न कर सका। अन्त मे हार मानकर उनके चरणों मे नतमस्तक हो गया और जिनधर्म की महान प्रशसा करता हुआ उन्हे आकाश-गामिनी विद्या प्रदान की।

पश्चात् विद्युतप्रभ भी जिनधर्म का श्रद्धालु बन गया और दोनों देव जिनधर्म की जय-जयकार करते हुए देवलोक को प्रस्थान कर गये।

"कल्पवृक्ष तो याचना करने पर फल देते हैं और चिन्तामणि चिन्ता करने पर फल देता है, परन्तु धर्म का फल तो बिना याचना एवं चिन्तवन किये ही प्राप्त होता है।"

"ज्ञानियों को पुण्य के प्रताप से अनायास ही संसार की उत्कृष्ट विभूतिया प्राप्त हो जाया करती हैं, ज्ञानी उनके लिये आराधना नही करते। ससार के सम्पूर्ण वैभव ज्ञानियों के चरणों की दासता चाहते है, पर ज्ञानी उनके दास नहीं होते। चक्रवर्ती तृष्णा कम होने से एक क्षण मे सम्पूर्ण वैभव को छोडकर चल देता है, पर एक भिखारी तृष्णा की अनन्तता होने से अपनी तुच्छ सम्पत्ति भी नही छोड पाता।"

अनायास ही आकाशगामिनी विद्या की प्राप्ति होने से सेठ जिनदत्त बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने सबसे पहले अकृत्रिम चैत्यालयो की वन्दना करने का विचार किया।

इस प्रकार वे विद्या के प्रभाव से नित्यप्रति अकृत्रिम जिनालयों के दर्शन पूजन के लिये जाने लगे।

(२)

एक दिन जब वे चैत्यालयों के लिये जाने को तैयार खड़े थे तभी सोमदत्त नामक माली ने हाथ जोडकर निवेदन किया "हे स्वामिन्! आप नित्यप्रति प्रात काल उठकर कहाँ जाया करते है? कृपया बतलाइये।'

"मुझे दो देवों की कृपा से आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई है, उसके प्रभाव से स्वर्णमय आकृत्रिम जिनालयों की पूजन करने के लिये जाता हू। **भगवान की पूजा एवं भक्ति महान सुख समृद्धि**

प्रदान करने वाली है। इसी से सब लौकिक एवं पारमार्थिक कार्य स्वयमेव सिद्ध होते हैं।" ऐसा सेठ ने कहा।

सेठ के वचन सुनकर सोमदत्त का मन ललचा गया। उसे भी विद्या प्राप्त करके जिनदर्शन करने की भावना जागृत हुई। वह करबद्ध होकर विनयान्वित स्वर से विद्या प्राप्ति का उपाय पूछने लगा—"प्रभो! मुझे भी कृपाकर विद्या प्राप्त करने का उपाय बताये, ताकि मैं भी भगवान की भक्ति-पूजन कर सकू एव अपने मन को पवित्र कर कृत्कृत्य हो सकू।"

जिनदत्त ने सोमदत्त की भगवत् भक्ति एव पवित्रता देखकर विद्या प्राप्ति का उपाय बतला दिया।

सोमदत्त विद्यासाधन की समस्त विधि सम्यक् प्रकार समझकर कार्य सिद्ध करने के लिये कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन अर्द्ध रात्रि के समय श्मशान भूमि मे चला गया। वहा जाकर एक वटवृक्ष पर एक सौ आठ लडियों का एक सीका बाधकर उसके नीचे तीक्ष्ण धार वाले अस्त्र-शस्त्रो को गाड़ दिया।

पश्चात वह सीके पर बैठकर पच नमस्कार मत्र का जाप करने लगा और जब सीके को काटने का समय आया तो उसकी दृष्टि नीचे गडे हुए अस्त्र-शस्त्रो की ओर गई। उन्हे देखते ही उसका हृदय भय से काप गया और वह शकित हो उठा कि "कही जिनदत्त के वचन सत्य न निकले तो मेरे तो प्राण ही चले जायेगे।" यह विचार कर वह भय और शका से नीचे उतर आया।

"अरे! भय और शका से तो लौकिक कार्य की भी सिद्धि नही होती, तो पारमार्थिक कार्य की सिद्धि तो कैसे होगी? नि शक और निर्भय ज्ञानियों के ही लौकिक एव परमार्थ कार्य सिद्ध होते है।"

"वस्तु स्वरूप को यथार्थ जानने वाला सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा ही जिनवचन में निःशक और निर्भय होता है। उसे मरणादिक का भय एवं शका नही होती। वह क्रमबद्ध वस्तु की व्यवस्था का केवली की भांति ज्ञाता ही रहता है, उसका कर्त्ता-भोक्ता नही बनता।"

सोमदत्त पुन. विचार करके कि "अरे! दयालु सेठ का मेरे से क्या स्वार्थ? जिससे वह मुझसे असत्य वचन कहेगा और मेरे प्राणान्त करना चाहेगा। वह तो जिन धर्म एव अहिसा का परम श्रद्धानी है।"

इस प्रकार श्रद्धा से संकल्प कर वह पुन. सीके पर चढा और शस्त्रो को देखकर भयातुर होकर पुन नीचे उतर आया। उसका यही क्रम बहुत समय तक चलता रहा।

(३)

राजकुमार ललित कुसगति के कारण दुराचारी बन गया। जैसे पवित्र दूध भी विष के सयोग से त्याज्य होता है वैसे ही ललित कुमार को दुराचारी जानकर अपमानित करके राज्य से बाहर निकाल दिया।

वह भटकता हुआ दूर देश मे निकल गया। जब उसे कोई आजीविका का साधन न मिला तो उसने एक अजन सिद्ध कर लिया। जिसके कारण उसका शरीर अदृश्य हो जाता था। इस कारण उसे चोरी करने मे आसानी हो गई। धीरे-धीरे वह अजन चोर के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

"तीव्र मोह के कारण जीव क्या-क्या पाप नहीं करता। एक पाप अनेक पापों को और एक व्यसन अनेक व्यसनों को जन्म देता है।"

अपमानित ललित जुआ और वेश्यासेवन जैसे महापाप भी करने लगा। वह अनग सुन्दरी नामक वेश्या के प्रेम मे आसक्त हो गया रात्रि के समय जब वह अपनी प्रेमिका की याद मे घर पहुँचा तो देखा कि वह एकदम उदास बैठी है।

"प्रिय! आज इतनी उदास क्यो हो?" क्या मुझसे कोई भूल हुई है? "मैं बात नही करूँगी जब तक मेरी प्रिय वस्तु मुझे लाकर नही दोगे और तभी अन्नजल ग्रहण करूंगी।" प्रेमिका रूठकर बोली।

"कानसी ऐसी प्रिय वस्तु है! जो मुझे इस पृथ्वीतल पर लाना कठिन है। कहो, मै अभी तुम्हारी इच्छा पूरी करूंगा। तुम्हारे लिये तो मैं आकाश के तारे भी तोडकर ला सकता हूं।"

"मुझे रानी के गले का मणियो वाला हार चाहिये, आज जब से मैंने देखा तभी से मेरा मन तड़फ रहा है, उसके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है, आप जैसे स्वामी के होते हुए भी यदि मैं उसे प्राप्त न कर सकी तो मेरे जीवन को धिक्कार है।"

"जैसे वेश्या के वश मे होकर जीव नाना प्रकार से नाचता है, उसी तरह मोहरूपी व्यभिचारिणी बुद्धि के वश मे होकर यह जीव अनादिकाल से ही परिभ्रमण कर रहा है। वेश्या जैसे जीवन का सर्वस्व लूटकर छोड देती है, उसी तरह मोहरूपी वेश्या के वश होकर यह आत्मा अपनी ज्ञान-श्रद्धान निधि को लुटाकर नाना प्रकार की गतियों में नाचता हुआ अन्त मे निगोद में अनन्तकाल के लिये बेभान होकर फैंक दिया जाता है।"

"जैसे जाल मे फसा हुआ पक्षी, कीचड में फसा हुआ वृद्ध बलद और कफ में फंसी हुई मक्खी का छूटना कठिन है। उसी तरह वेश्यासक्त जीव का पापों एवं दुराचारों से छूटना कठिन है।"

अनगसुन्दरी के प्रेमपाश मे बधा हुआ वह अंजनचोर अपनी प्रेमिका की इच्छा पूर्ण करने के लिये अपने जीवन की परवाह न करके उस जघन्य कार्य के लिये चल दिया।

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की घनघोर काली निशा में वह चारों ओर सुनसान देखकर पहरेदारो की आखो मे धूल झोककर महल मे जाकर घुस गया और रानी का चमकता हुआ अत्यन्त कीमती रत्न-हार चुराकर वहा से भागा। रानी ने जागकर देखा तो अवाक् रह गयी। तत्काल चारो ओर सिपाही दौड पडे नगर में कोलाहल मच गया।

अजन तो अदृश्य हो गया पर वह हार अदृश्य न हो सका अतः उसका प्रकाश न छिप सका। सिपाही उस हार के प्रकाश को देखकर उसके पीछे दौड पडे। पकडे जाने के भय से उसने हार को रास्ते मे ही फेंक दिया। सिपाही हार को पाकर वापिस लौट गये।

पसीने मे चूर कापता हुआ बेहताशा होकर अजन चोर भागता-भागता वही श्मशान भूमि मे जा पहुचा जहा सोमदत्त विद्यासाधन कर रहा था। वह एक वृक्ष की ओट मे जाकर छिप गया और भयभीत चित्त से बहुत देर तक वह उस घटना को आश्चर्य चकित होकर देखता रहा।

(४)

"यद्यपि कार्य मे निमित्त कुछ कर्ता नही है परन्तु जब कार्य होने का काल पकता है तो अनुकूल निमित्त स्वयमेव मिल जाते है। निमित्त की उपस्थिति मात्र कार्य मे अनिवार्य है, वास्तविक कार्य तो वस्तु के स्वय के उपादान की सामर्थ्य से ही होता है।"

अजन चोर सोमदत्त को इस प्रकार चढता-उतरता देखकर सोचने लगा-"यह कौन है ? इतनी अन्धेरी रात्रि में यहां क्या करता है ?" वह धीरे-धीरे समीप मे पहुचा और सोमदत्त से इस प्रकार करने का कारण पूछने लगा।

सोमदत्त ने विद्या साधन करने का सम्पूर्ण वृत्तान्त उसे सुना दिया। उक्त बात सुनकर अन्जन चोर बहुत प्रसन्न हुआ उसने सोचा "सिपाही तो मेरे पीछे आ ही रहे है, मुझे मिलते ही मार डालेंगे, तो फिर क्यो न धर्म की शरण लेकर मरू।" ऐसा विचार कर अजन चोर सोमदत्त से तलवार लेकर वृक्ष पर चढ गया और नि:शक भाव से विश्वासपूर्वक मन्त्रोच्चारण करता हुआ सींके को काट दिया। जैसे ही वह नीचे गिरने को हुआ कि आकाशगामिनी विद्या ने बीच मे ही साध लिया और वह विद्या उपस्थित होकर बोली- 'हे स्वामिन् ! आज्ञा कीजिये मे सेवा मे उपस्थित हूं।'

विद्या को सामने उपस्थित देखकर अजन को अपार हर्ष हुआ मानो तीन लोक का वैभव उसे मिल गया हो। उसका परिणमन-चक्र बदल गया। वह सोचने लगा-'अहो ! धन्य है, जिन धर्म की महिमा को, जिसके एक मन्त्र की आराधना के प्रभाव से इस महान कार्य की सिद्धि हुई, तो सम्पूर्ण रूप से आराधना का फल कितना महान होगा !

अहो ! इस विद्या को प्राप्ति मे सम्पूर्ण उपकार सेठ जिनदत्त का है, इसलिये सबसे पहले उनके दर्शनो के लिये ही चलना चाहिये। ठीक है **सज्जन पुरुष किये हुए उपकार को भूलते नहीं हैं**। ऐसा विचार कर उसने विद्या से कहा-"धर्मभूषण जिनचरणाम्बुज चचरीक सेठ जिनदत्त जिस मेरुपर्वत पर अकृत्रिम जिनालयो की वन्दना करने गये है वही पर मुझे पहुचा दो।'



कहने की देर थी कि क्षण मात्र मे विद्या के प्रभाव से सुमेरु पर्वत पर सेठ जिनदत्त के पास पहुच गये ।

(५)

"देह से कोई पापी नहीं होता, परिणामों से ही पाप पुण्य होता है। सम्यग्दर्शन सहित यदि आत्मा चांडाल की देह मे हो तो गणधर देव उसको 'देव' कहते हैं। धर्म के प्रभाव से स्वान भी क्षण में महर्द्धिक देव हो जाता है और पाप के प्रभाव से स्वर्ग का महर्द्धिक देव भी क्षण में स्वान हो जाता है।'

"जैसे समुद्र में जहाज को खेवटिया पार करता है, वैसे ही संसार समुद्र में रत्नत्रय रूपी जहाज को सम्यग्दर्शन रूपी खेवटिया ही पार लगाता है। जैसे बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फल प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान एवं चरित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल प्राप्ति नहीं होती।'

'यदि पशु होकर भी सम्यक्त्व संयुक्त है तो उसे मनुष्य ही समझना चाहिए और यदि मनुष्य होकर भी सम्यग्दर्शन से रहित है तो उसे पशु ही समझना चाहिये। मोक्षरूपी मन्दिर का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन ही उत्तमरत्न, महानऋद्धि कामधेनु, एवं कल्पवृक्ष है।'

हे भव्य ! इस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को शीघ्र धारण कर।

सुमेरुपर्वत पर अकृत्रिम चैत्यालयों को देखकर अंजन का मन प्रसन्नता से भर उठा वह आनन्द से नाचने लगा उसके हृदय का पाप मल परमात्मा के दर्शन से प्रक्षालित हो गया। सेठ जिनदत्त को देखते ही भक्ति एवं श्रद्धा से उसका मस्तक उनके चरणों मे झुक गया, बार-बार अनेक प्रकार से उनकी प्रशंसा करने लगा—"हे नाथ ! आपकी कृपा से मेरा उद्धार हो गया। मेरे जैसा अभागा पापी भी जिनधर्म के प्रताप से ऐसी महान ऋद्धि को प्राप्त हो गया। अहो !

आज मेरा धन्य अवसर आया है ! आज का दिवस मेरे लिये सबसे अधिक मगल एव आनन्द का है। आज मेरे अन्तःचक्षु उन्मीलित हुए है। अरे रे ! मुझ पापी ने आजतक कितने-कितने पाप किये, कितनो को सताया, कितनो का धन चुराया, उस पापिनी ठगिनी वेश्या के मोह मे फसकर मैने क्या-क्या दुराचरण नही किये। सप्त-व्यसनो के सेवन मे दिनरात चकचूर रहा। अहो ! महान पाप का बोझा मेरे माथे लद गया है, मुझे अकेले ही उसका फल भोगना पडेगा, कर्मों के भोगने मे कोई साथ देने वाला नही है ? हे स्वामिन् ! मुझे प्रायश्चित् दीजिये। पूर्वकृत पापो का विचार करने से मेरा हृदय फटा जा रहा है—ऐसा कहते-कहते उसकी आखो से टप-टप आसुओ की धार निकल पडी। वह बारम्बार अपने को धिक्कारने लगा, उसे अपने आप मे भी घृणा हो गयी। वह जिनदत्त से अपने कल्याण की भीख मागने लगा। उसे अपने चारो ओर भयकर दुःख रूपी जन्तुओ से भरा ससार सागर मडराता हुआ नजर आने लगा।

"प्रभो ! अब तो आप ऐसा उपाय बताये जिससे मेरे समस्त पूर्वकृत दुष्कर्म मिथ्या हो। इस ससार सागर से मेरा किनारा आ जाये। मै तो अब जिनधर्म के प्रताप से अविनाशी आत्मिक सुख प्राप्त करना चाहता हू। अष्टकर्मों को नष्ट कर शीघ्र परमपद प्राप्त करना चाहता हू।"

अजनचोर के इस तरह पश्चाताप पूर्ण वचन सुनकर कृपालु जिनदत्त बोले-"हे भव्य! इस तरह अधीर न हो। जिन धर्म की शरण लेने से बडे से बडे पापियो का भी कल्याण हो जाता है। देखो ! जरा सी नि शक आराधना मे ही तुम्हे आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हो गई। इसी तरह नि शक होकर भगवान जिनेन्द्र की वाणी स्वीकार कर सम्यग्दर्शन धारण करो, तुम्हारा अविनाशी कल्याण होगा।'

"पर्याय की भूल तो एक समय की है, अगले क्षण उसका नाश हो सकता है। पूर्व पर्याय का वर्तमान पर्याय मे अभाव है। अत वर्तमान मे पुरुषार्थ करके पूर्वकृत दोषों का नाश किया जा सकता है।'

"**आत्मा का एकमात्र रक्षक सम्यग्दर्शन है**। नाक बिना सूघना, आँख बिना देखना और कान बिना सुनना जैसे असम्भव है, वैसे ही अष्टाग के बिना सम्यग्दर्शन भी अपूर्ण है। अगहीन सम्यग्दर्शन पाप रूपी मल को दूर नही कर सकता। नि शक श्रद्धान से आत्मा मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है। अपने और पर के स्वरूप को सम्यक् जानने वाले सम्यग्दृष्टि के सप्तभय नही होते।

"**इस देह मे पग के नख से लगाकर मस्तक पर्यंत जो ज्ञान है, चैतन्य है वह हमारा धन है। इस ज्ञान मात्र से भिन्न एक परमाणु मात्र भी हमारा नहीं है**। देह और देह के सबधी जो स्त्री, पुत्र, धन धान्य, राज्य, विभवादिक है वह मेरे से भिन्न परद्रव्य है, सयोग से उपजे हैं इनका हमारा क्या सबध ? ससार मे ऐसे सबध अनन्तानन्त होकर वियोग हुए हे। जिनका सयोग हुआ उनका निश्चय से वियोग होगा ही, जो उपजा है वह विनसेगा ही। **मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा उपजा नहीं, विनसू गय नहीं**। ऐसा जिसके नि शक दृढ निश्चय है, उसके देह छूटने का और दस प्रकार के परिग्रह के वियोग होने का भय नही होता।"

"जो कर्मबंधन मोहकर्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वो शंका रहित, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥"

इस प्रकार संबोधन कर जिनदत्त अजन को चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के पास ले गये और सम्पूर्ण वृतान्त मुनिराज से कहा पश्चात् मुनिराज ने उसे उपदेश देकर उपकृत किया।

"हे आत्मन् तू स्वयं प्रभु है। स्वभाव से तो सब प्रभु ही हैं, यदि स्वभाव का आश्रय करे, तो पर्याय की पामरता मेटकर पर्याय में भी प्रभुता प्रगट कर सकता है। अरे! तेरे भण्डार में तो आनन्द भरा है और तुझे खोलना नहीं आता। अन्तर में दृष्टि करके अपने अचिन्त्य वैभव को खोल। अखण्ड चैतन्यकोठी अनन्तगुणों के भण्डार से भरी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान द्वारा वह भण्डार प्रगट होता है और बढ़कर पूर्ण होता है। चैतन्य की महत्ता में अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र उछलता है, उसके समक्ष जगत के किसी भी फल की महत्ता ज्ञानी को नहीं आती।

अरे जीव! दुर्लभ मनुष्यभव मे सम्यग्दर्शन प्राप्त कर शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अगीकार कर!

यथार्थ को समझे बिना अनन्तभवों मे परिभ्रमण किया और यदि अभी भी सत्य को न समझा तो चौरासी लाख योनियो के भयकर भवभ्रमण के लिये तैयार हो जा .. . **अरे! जिस भाव से अभी तक अनन्तभव किये उस भाव से भव का नाश नहीं होगा, किन्तु उससे विरुद्ध भाव से भव का नाश होगा।'**

इस प्रकार वैराग्यमय मुनिराज के उपदेश को सुनकर अजन का हृदय अत्यत विरक्त हो गया और उसने वही सम्यग्दर्शन पूर्वक मुनिदीक्षा अगीकार करली। पश्चात् आत्मसाधना पूर्वक उग्र तपश्चरण प्रारम्भ कर दिया और अल्पकाल मे कर्मकालिमा को नष्टकर केवल ज्ञान प्रगट कर लिया। और सादि अनन्तकाल के लिये अजर, अमर, अविनाशी सिद्धपद प्राप्त करके मुक्त हो गये।

अहो, धन्य भाग्य! एक क्षण पहले का पापी अगले क्षण परमात्मा बन गया। हम आज भी अजन को चोर के ही नाम से जानते है, पर वह तो कर्म कलंक धोकर आज अजन से निरंजन-

परमात्मा-सिद्धात्मा हो गया । धन्य है अजन भगवान को !



कथा-सार

* वज्रपात होने पर भी नि शक और निर्भय ज्ञानी अपने मार्ग से चलायमान नही होते । अपने ज्ञानानन्द स्वरूप मे ही निश्चल रहते है ।

* कल्पवृक्ष तो याचना करने पर फल देता है, और चिन्तामणी चिन्ता करने पर फल देता है । परन्तु धर्म का फल तो बिना याचना एव चिन्तवन किये ही प्राप्त होता है ।

* जैसे जाल मे फसा हुआ पक्षी, कीचड में फसा हुआ वृद्ध बलद, और कफ मे फसी हुई मक्खी का छूटना कठिन है । उसी तरह वेश्यासक्त जीवो का भी पापो एव दुराचारो से छूटना अत्यन्त कठिन है ।

* देह से कोई पापी नही होता, परिणामो से पाप-पुण्य होता है । सम्यग्दर्शन सहित यदि आत्मा चाडाल की देह मे हो तो भी गणधर देव उसे 'देव' कहते है । सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान एवं चरित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय नही होता । यही सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी मदिर का प्रथम सोपान है ।

* जिस भाव से अभी तक अनन्त भव किये उस भाव से भव का अभाव नही होगा ।

* अहो ! धन्य है अजन भगवान को । एक क्षण पहले का पापी अगले क्षण परमात्मा बन गया । हम आज भी अजन को चोर के ही नाम से जानते है, पर वह तो अजन से निरञ्जन-परमात्मा-**सिद्धात्मा** हो गया ।

२. कांक्षाओं के पार

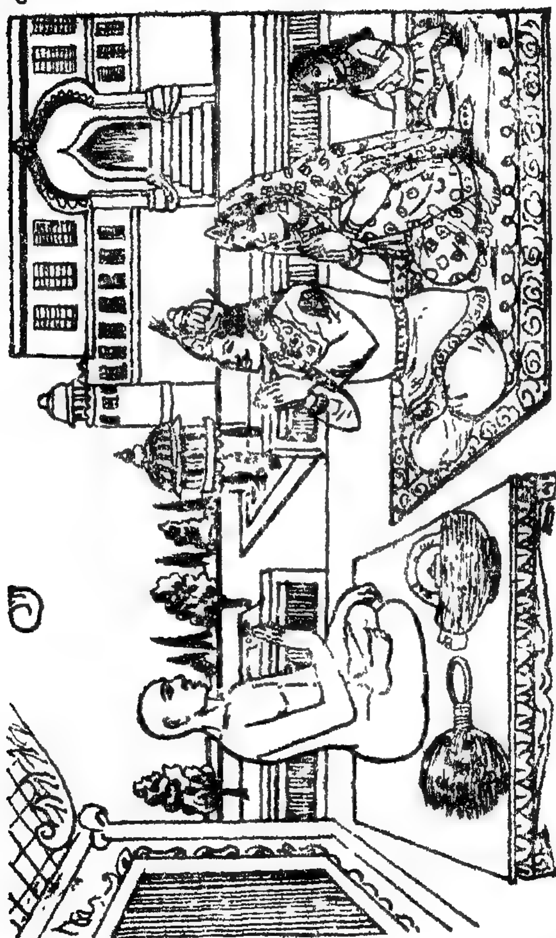
भांति-भांति के कष्ट सहे भी, जिसका मिलना कर्माधीन।
जिसका उदय विविध दुःखयुत है, जो है पाप-बीज प्रति हीन॥
जो है अंतसहित लौकिक सुख, कभी चाहना नहिं उसको।
निःकांक्षित यह अंग दूसरा, धारा 'अनंतमति' इसको॥२॥

अगणित कमलों से परिपूर्ण तालाबों से सुशोभित, कुबेर के समान धनिकों से युक्त, सरस्वती पुत्र विद्वानों से पूर्ण अंगदेश में मणियों से युक्त उन्नत शिखरबद्ध जिनालयों के द्वारा समस्त पाप प्रक्षालिनी चम्पापुरी नाम की अनुपम नगरी है। इस नगरी में जिनागम रूपी समुद्र का पारगामी श्रेष्ठ वणिक् वंश में उत्पन्न प्रियदत्त नाम के श्रेष्ठी निवास करते थे। अत्यंत रूप लावण्य युक्त अप्सरा तुल्य सुन्दर अनन्तमती नाम की उनकी एक पुत्री थी। कन्या का बाल्यकाल धीरे-धीरे बाल सुलभ क्रीडा करते हुए समवयस्क बच्चों के साथ बीत रहा था। पैत्रिक धर्म के संस्कार भी धीरे-धीरे उसके जीवन में पल्लवित हो रहे थे।

बालसुलभ क्रीडाओं से युक्त एक दिन वह गुड्डा, गुड्डियों के विवाह रचाने का खेल, खेल रही थी। इसी समय उसके पिता प्रियदत्त उसी रास्ते से जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने के लिये जा रहे थे। क्रीडारत अपनी प्रिय पुत्री को उन्होंने अपनी गोद में उठा लिया और उसे भी अपने साथ जिनालय ले गये।

जिनदर्शन करने के बाद उन्होंने धर्मकीर्ति मुनिराज के दर्शन किये और मुनिराज से अष्ट दिन के लिये अष्टाह्निका पर्व में ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। अनन्तमती ने भी पिता की देखा देखी

ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया। उसे व्रत धारण करने से बहुत प्रसन्नता हुई।



"जिस प्रकार दरिद्री राज्य लक्ष्मी प्राप्त कर, अन्धा नेत्र पाकर

रोगी औषधि प्राप्त कर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार अनंतमती को व्रत ग्रहण करने मे प्रसन्नता हुई। वह विचारने लगी कि **व्रतरूपी नाव ही जीव को संसार सागर से पार उतारने वाली है। प्रतिज्ञा-रूपी रस्सी के सहारे बिना भव-कूप से निकलना मुश्किल है।"**

अनतमती धीरे-धीरे वयस्क अवस्था को प्राप्त होने लगी, प्रियदत्त उसके विवाह के लिये चिंतित हो गये, वह योग्य वर की गुप्तरूप से तलाश करने लगे।

अनतमती की विचार शक्ति विलक्षण थी, बचपन से ही उसके किसी विषय की आकाक्षा न थी, वह प्रतिज्ञा का पालन करने मे दृढ थी. उसकी विचारधारा यही रहती कि "**जिस तरह चक्रवर्ती की सम्पदा छोड़कर झोंपड़ी ग्रहण करना, चितामणि रत्न छोड़कर कांच ग्रहण करना, सोना छोड़कर मिट्टी ग्रहण करना मूर्खता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन एव ब्रह्मचर्य व्रतरूपी रत्नो को छोड़कर विषयों की अभिलाषा करना भी महान् मूर्खता है।"**

(२)

अपने रूप लावण्य से अप्सराओ को लुभाने वाली अनन्तमती एक दिन अपनी सखियो के साथ उद्यान मे झूला झूल रही थी। उसी समय आकाशमार्ग मे कुण्डलमण्डित नामक एक विद्याधर बल्लभा सुकेशिनी सहित क्रीडा करने जा रहा था, जब उसकी दृष्टि अनन्तमती पर पडी तो देखते ही उस पर मत्रमुग्ध हो गया और अपने कार्य की सुधबुध भूलकर उसे प्राप्त करने की सोचने लगा।

"वासना की आग जीव के विवेक को कुण्ठित कर देती है। वह ज्ञान एव धर्म-कर्म सबको तिलाञ्जलि दे देता है, कामान्ध प्राणी को अपना मित्र भी शत्रु की तरह भाषित होता है।"

जिस प्रकार चोर पहरेदार को देखकर घबड़ाता है, उसी तरह कुण्डलमण्डित अपनी स्त्री को देखकर घबड़ाया । उसने सोचा इसके रहते में अपना कार्य सिद्ध नही कर सकता, इसलिये वह उसे किसी बहाने घर छोड़ने चल दिया और तत्काल विमान द्वारा वापिस उसी उद्यान मे जा पहुचा जहा दुर्दैव की काली घटा अनन्तमती पर छा रही थी ।

जिस प्रकार कषायी को देखकर गाय का रक्त सूख जाता है, उसी तरह उस काम विधाधर को देखते ही अनन्तमती मूर्छित हो गई, जब उसकी चेतना लौटी तो उसने अपने को विमान मे पाया वह तत्काल सब बात समझ गई, वह अपने ऊपर विपत्ति आयी जानकर पच नमस्कार मत्र का स्मरण करने लगी और उपसर्ग टलने तक अन्नजल का त्याग कर आत्मचिन्तन मे खो गई ।

सुकेशिनी को अपने पति पर सन्देह हो गया, वह उसके छल को समझ गई और अपना रौद्ररूप धारण कर पति के पास जा पहुची, पत्नी के विकराल रूप को देखकर कुण्डलमण्डित के प्राण सूख गये, वह अनन्तमती को भीमकारण्य मे छोड़कर चला गया ।

भयकर जंगल चारो ओर सिह, बाघ, चीते, हाथियो का चीत्कार घनघोर अन्धकार ! अरे रे ! कौन सुने वहा उस अबोध बालिका की पुकार "क्षण मे पुण्य क्षीण होते ही जीव की क्या से क्या दशा हो जाती है, पाप के उदय मे समस्त समागम प्रतिकूल परिणमन कर जाते है, **जैसे नदी के अपार वेग को कोई रोकने में समर्थ नहीं, उसी प्रकार जीव के शुभाशुभ कर्मोदय को भी कोई रोकने में समर्थ नहीं ।"**

अनन्तमती उस जगल मे अपने को अकेला देखकर घबडाई पर विचारने लगी—"अरे ! जहा कोई शरण नही वहा पचपरमेष्ठी और मेरा शुद्धात्मा ही मुझे परम शरण है ।"

"यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र मणि और औषधि आदि सब पुण्योदय तक साथ देते हैं, पुण्य के क्षीण होते ही समस्त वस्तुएँ निष्प्रभ हो जाती हैं। चक्रवर्ती की सम्पदा और इन्द्र का वैभव क्षण में बादलों की तरह विलीन हो जाता है, पुण्य के नष्ट होते ही मित्र शत्रु बन जाते हैं, सम्मान-असम्मान में बदल जाता है। हे आत्मन् ! ऐसे पाप-पुण्य से भिन्न अपने शुद्धात्मा की शरण में चला जाता है।"

अरे ! इस ससार में आत्मा ने अनेक बार तिर्यञ्च गति और नरक गतियो की अपार वेदना सहन की है, यहा तो उसका अश भी नही है। समार मे सुख की बाछा वह तो अग्नि से शीतलता प्राप्त करने जैसी निरर्थक अभिलाषा है।

इस विषम परिस्थिति मे अपने शीलव्रत की रक्षा करना यही इस मनुष्य जन्म की कसौटी है, जिस प्रकार हाथी जगल को नहीं छोडता, शिशु मा के बिना नही रह सकता, स्त्री पति के बिना नही रह सकती, उसी प्रकार शील के बिना मेरा जीवित रहना व्यर्थ है।" इस प्रकार विचार कर अनन्तमती अपने शीलव्रत की रक्षार्थ सावधान हो गई और सयोगो से अपने चित्त को हटाकर स्वभाव सन्मुख कर लिया।

(३)

कुछ समयानन्तर भीमाख्य का सरदार घूमता हुआ वहा आ पहुंचा और अनतमती को देखते ही उस पर मोहित हो गया। उसका रोम-रोम काम-वासना से भर गया। वह अनतमती को अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर अपनी बात स्वीकार कराने की अनु-नय विनय करने लगा, परन्तु जब उसकी वासना के जहर की बाते कुछ असर न कर सकी तो क्रोध से उसका चेहरा लाल हो गया। वह अपने विकराल रूप से अनतमती को डराने लगा।

"विषय कषाय को जन्म देते हैं और कषायें पाप में प्रेरित करती है, विषयान्ध प्राणी पशु की तरह भला बुरा अर्थ-अनर्थ के विचारों से शून्य हो जाता है।"

पुन: उपसर्ग आया देखकर अनतमती सोचने लगी मुझे प्राण देना स्वीकार है, परन्तु व्रतभग करना स्वीकार नही। '**प्रतिज्ञा न लेने का तो दोष नहीं है, परन्तु प्रतिज्ञा लेकर भंग करना महापाप है, जैसे एकाशन की प्रतिज्ञा लेकर अल्प भोजन करे तो भी धर्मात्मा है और उपवास की प्रतिज्ञा करके कणमात्र भी भक्षण करे तो पापी ही है।**" अत: जब तक उपसर्ग न टले तब तक आहार पानी का मेरे त्याग है। इस प्रकार सल्लेखना ग्रहण करके वह मौन हो गई।

अनन्तमती पर उपसर्ग आया देखकर शील के प्रभाव से वहां की रक्षक बन देवी का आसन कम्पायमान हो गया, उसने प्रगट होकर वन सरदार को भयकर पिटाई लगाई, वह हाथ जोडकर अनतमती के चरणो मे लोट गया और अपने पाप की क्षमा मागने लगा।

अनतमती को सुमेरु के समान अपने व्रत मे निश्चल देखकर देवी प्रशसा करती हुई बोली—"हे शीलवते! तुम धन्य हो। तुम्हारी जिनेन्द्र भक्ति एव श्रद्धा अडोल है, तुम्हारे नि:कांक्ष भाव को ससार का कोई प्रलोभन मार्ग मे विचलित न कर सका, विषय वासना पर आपने अद्वितीय विजय पायी है, मैं तुम्हारे निरभिलाष स्वभाव को बारबार प्रशसा करती हूँ, तुम्हारे जैसे शीलवन्तो-धर्मात्माओ से ही यह धरा धन्य है।" इतना कहकर देवी अपने स्थान को चली गई।

वह वन सरदार अनतमती को अयोध्या का रास्ता बताकर वन की ओर लौट गया।

अनतमती एक ओर अपने पाप का उदय और दूसरी ओर धर्म की महिमा का विचार करती हुई अयोध्या की ओर चल दी ।

(४)

अयोध्या की ओर जाते हुए रास्ते मे उसे एक जिनमन्दिर दिखाई दिया व प्रसन्नचित्त से जिनदर्शन के लिये वहां चली गई । वहां एक वणिक् पुत्र भी जिनदर्शन के लिये आया हुआ था, अनन्तमती को देखते ही वह समभ गया कि यह कोई सकट मे घिरी हुई शीलवान कुलीन कन्या है, इसका प्रताप इसके चेहरे पर ही नजर आ रहा है, उसने सहज भाव से पूछा-'बहिन आप कहा रहती है ? आपके माता-पिता कौन है ? यहाँ कहाँ से आयी है ? किस लिये अकेली भ्रमण कर रही है ?

अनतमती ने उसे अपना धर्म भाई जानकर जवाब दिया- **"सुदूरवर्ती मोक्ष मेरा देश है, जिनागम मेरा नगर है, चैतन्य विहार मेरा घर है, सम्यक्त्व मेरा पिता एवं सयम मेरी माता है, रत्नत्रय मेरे भाई है, तत्व चिन्तन मेरा जीवन है और देव-शास्त्र-गुरु, मेरे रक्षक हैं, इसके अलावा कोई मेरा वास्तविक बन्धु नहीं है ।"**

धर्म वत्सल वणिक पुत्र अनन्तमती के इस उत्तर को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और उसे वह अपनी धर्म बहिन समभकर अपने घर ले गया ।

वह घर जाकर अपनी स्त्री गुणवती से बोला-"इसका अपनी पुत्री के समान पालन करना, मै जब तक व्यापार करके वापिस न लौटू तब तक इसका यथोचित ध्यान रखना, यह हमारा परम सौभाग्य है कि यह धर्मात्मा कन्या हमे सहज प्राप्त हुई है ।" इस प्रकार कहकर वह व्यापार के लिये बाहर चला गया ।

'स्त्रियों को शंकित होते देर नहीं लगती और शंका की कोई दवा नहीं होती ईर्षा, जलन, विद्वेष, माया और छल उनकी स्वाभाविक संपत्ति है।'

अनन्तमती का अद्भुत रूप लावण्य देखकर गुणवती सोचने लगी-'इस नवयौवना का सौन्दर्य तो अप्सरा तुल्य है, वाणी कोयल जैसी मधुर है, मेरा यौवन तो अब ढल रहा है, इस लावण्यवती को देखकर कदाचित पतिदेव का दिल इस पर चला गया तो मुझ वे नियम से छोड देगे, इस कुविचार ने उसके हृदय मे आग लगा दी, अनन्तमती का रहना उसे काटे की तरह चुभने लगा, वह उसे मौतन की तरह नजर आने लगी, उसने पतिदेव के आने के पहले ही मार्ग के काटे को निकालकर फेंकना उचित समझा, और एक च्याली नामक वेश्या को बुलाकर उसके हाथ अनन्तमती को वेच दिया, अनन्तमती वेचारी किस्मत की मारी सर्प से छूटी तो अजगर के मुख मे जा पड़ी।

(५)

'जब तक कर्मों का विपाक रहता है, उसकी गति को इन्द्र और जिनेन्द्र भी नहीं रोक सकते। भो आत्मन्! इस दुखमय ससार से विरक्त हो जाना ही श्रेयस्कर है। समस्त ससार वासना की आग मे वेभान होकर जल रहा है। अहो! इन विषय भोगो से सुख की अभिलाषा वह तो खोलते हुए गर्म घृत मे शीतलता पाने जैसी निष्फल आकॉक्षा है, हे जीव! इस क्लेशरूप आकाक्षा से वश हो! वस हो!!'

रे रे दुर्भाग्य! क्या-क्या खेल दिखाता है? अनन्तमती ने इस ससार के दुष्चक्र को देखकर सयोग से दृष्टि हटाकर पंच

परमेष्ठी के ध्यान में अपने उपयोग को लगा दिया और अन्न-जल छोड़कर समाधिमरण ग्रहण कर लिया।

वेश्या ने अनेक प्रकार से अपना माया जाल फैलाया पर वह अनंतमती को मार्ग से विचलित न कर सकी उसे अनेक प्रकार का लालच दिया, अनेक प्रकार का भय दिखाया पर उसने उस डायन की तरफ आख उठाकर भी न देखा।

"जिसका मन निर्विकार होता है उसे त्रैलोक्य का तृण तुल्य वैभव भी क्या आकर्षित कर सकता है! सारा जगत स्वर्णमय हो जाये तो भी निर्लिप्त ज्ञानियों को स्वप्न में भी उसकी वांछा नहीं होती, वांछा से तो पुण्य का घात होता है, पुण्यबन्ध भी निर्वाञ्छक ज्ञानियो को ही होता है, छाया की तरह जगत का वैभव उनके पीछे भागता है।"

"विषयी कीड़े ही विष्टा के समान त्याज्य भोगों में आकण्ठ गर्थ होकर आनन्द मानते है, पागल कुत्ते की तरह विषयों की तरफ भाग-भाग यह क्षुद्र प्राणी अपना प्राणान्त कर लेता है, पर मृगमरीचिका मे से जैसे जल की बूंद प्राप्त करना दुष्कर है वैसे ही इन विषय वासनाओ से सुख की गंध प्राप्त करना भी असक्य है, जिस तरह कुत्ता हड्डी चबाकर अपने फटे जबड़ों का खून चाटकर संतुष्ट होता है, उसी तरह विषय-भोगों से निर्लिप्त प्राणी उनमें सुख की कल्पना करके सतुष्ट हो जाता है।"

जब वेश्या का जादू अनन्तमती पर न चला तो वह हताश हो गई और सोचने लगी—"इस अद्भुत सुन्दरी को राजा के हाथ वेच देना ही उपयुक्त रहेगा, इसे देखकर राजा प्रसन्न हो जायेगा और मुझे भी अपार धन मिलेगा, यह खाना-पीना छोड चुकी है, यदि मर गई तो मेरा वहुत नुकसान हो जायेगा।"

इस प्रकार विचार कर वह राजा सिंहरत्न के पास अनन्तमती को ले गई और दरबार मे जाकर बोली—"हे राजन् ! यह अनाघ्रात कलिका आपके उपभोग करने योग्य है, दासी ने इसे पाने के लिये अपार धन खर्च किया है।"

राजा भी उस दिव्य सुन्दरी को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उस वेश्या को विपुल धनराशि देकर विदा किया।

अहो ! दुर्भाग्यवश बेचारी कुए से निकलकर खाई मे जाकर पुन: फस गई। अनेक आधी तूफान आने पर भी जैसे पथिक अपनी बहुमूल्य वस्तु को नही छोडता वैसे ही अनेक विपत्तियां आने पर भी अनन्तमती ने अपने बहुमूल्य शील धर्म को नही छोड़ा।

(६)

जैसे कोई चूहा बिल्ली से छूटकर सिह के पंजे मे जाकर फंस जाये, वैसे ही अनन्तमती उस अभागिनी वेश्या के हाथ से छूटी तो दुष्ट व्यभिचारी राजा के चगुल मे फस गई।

"अरे ! जहां राजा ही अन्याय और अनीति करता हो वहां न्याय और नीति किसकी शरण में जाकर रहेंगे ! बाड़ ही जब खेत को खाने लगे तो उस खेत की अब कौन रक्षा करेगा ?"

जोक जिस तरह दूषित रक्त को चाहती है उसी तरह भोगों के भिखारी निरन्तर उच्छिष्ट वत् भोगो की अभिलाषा किया करते है। जैसे अभागा स्वान वमन मिलने पर एव भिखारी जूठन मिलने पर प्रसन्न होता है, वैसे ही राजा अनन्तमती के रूप सौन्दर्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, वह अभागा इसे अपना सौभाग्य समझने लगा, पर **जिसकी होनहार खोटी होती है उसकी मति पहले ही भ्रष्ट हो जाती है,** विवेक समाप्त हो जाता है।

राजा अनन्तमती से बारंबार प्रेमोपहार के लिये याचना करने लगा-"हे मृगनयने ! स्वप्न सुन्दरे ! ! तुम्हारे रूप लावण्य पर तो मैं अपना सर्वस्व न्यौछावर करता हूँ, राज्य, भण्डार, भृत्य, पट्टरानी, कोश, सेना आदि सब कुछ आपके चरणो मे समर्पित हैं, मैं तुम्हें राज्य के सर्वोत्कृष्ट पद पर आसीन करके तुम्हारे चरणों की पूजा करता रहूगा। एक बार स्नेह भरी दृष्टि से मेरी ओर देखकर मुझे कृतकृत्य कीजिये, अपने प्रेमालिगन से मुझे आनदित कीजिये।

अहो ! राजा भी विषयो के आगे अन्धा होकर भिखारियो की तरह गिडगिडाने लगा, राजा की इस पाशविक प्रवृत्ति को देखकर प्रकृति ने भी शर्म से अपना मस्तक झुका लिया, नदिया आसु बहाने लगी, पर्वत धिक्कारने लगे !

जिस तरह चिकने घडे पर पानी का प्रभाव नही पडता, उसी तरह राजा की बातो का अनन्तमती पर कोई असर न हुआ। सतीत्व की किरणे उसके सर्वाग से प्रस्फुटित हो रही थी, उसके मुख पर शील का अद्भुत तेज विद्यमान था, यद्यपि राजा उसके प्रभाव से भयभीत था, फिर भी राजमद अपनी प्रतिज्ञापूर्ण करने के लिये उसे उत्तेजित कर रहा था।

अनेक प्रयत्न करने पर भी राजा अनन्तमती का मौन भग न कर सका, तब क्रोध मे उत्तेजित होकर अभद्र व्यवहार करने के लिये उद्यत हो गया, उसने अपने नौकर-चाकरो एव परिचारिकाओ को अनन्तमती की पिटाई करने का आदेश दे दिया, भयकर पिटाई से उसका सारा बदन सूझ गया, परन्तु अनन्तमती अपने व्रत की रक्षा के लिये सुमेरूवत् अडिग बनी रही।

धर्मात्मा शीलवती पर इस अत्याचार के कारण नगर के शासनदेव का आसन कम्पायमान हो गया। उसने अपन ज्ञान से एक

क्षण में समस्त घटना अवगत करली। और देखते ही देखते राजा, अमात्य, सेनापति, नौकर चाकर आदि पर भयकर मार पड़ने लगी। सबके शरीर से रक्त की धार लग गई, सर्वत्र चीत्कार ही चीत्कार सुनाई पड़ने लगा। राज दरबार के करूण कुन्दन को सुनकर समस्त नगर निवासी एकत्रित हो गये सभी भय से कापने लगे। उक्त घटना ज्ञात होने पर सभी ने राजा के कुकृत्य को धिक्कारा। पश्चात् देव से उपसर्ग शान्त करने की प्रार्थना की।

शासन देव प्रसन्न होकर अनन्तमती की स्तुति करने लगा— "हे देवि ! आपके धैर्य को धन्य है, आपके गुणो की कहा तक प्रशसा करू, तुम्हारा हृदय बालकवत् निर्विकार एव मुनिमन सम उज्वल है, सम्यग्दर्शन सहित यथार्थ निःकाक्षित अग का पालन करने से आपका जीवन स्फटिक वत् स्वच्छ एव निर्लेप है। देव, शास्त्र, गुरु के प्रति तुम्हारे दृढ श्रद्धान को धन्य है। जिनभक्ति के प्रसाद से ससार की समस्त अलभ्य वस्तुऐ प्राप्त हो जाया करती है, परन्तु धन्य है उन ज्ञानियो को जिन्हें उनकी आकाक्षा नही होती।" पश्चात् देव अपने स्थान की ओर चला गया। लोग चारो ओर जिनधर्म की जय-जयकार करने लगे।

धर्म की महिमा देखकर राजा सिहरत्न अनन्तमती के चरणो मे लोट गया एव अपने पापाचरण की क्षमा-याचना करने लगा। समस्त रानिया एव दास-दासिया उसके चरणो की पूजा करने लगी एव अपने पाप की क्षमा मागने लगी। समस्त जनसमुदाय साक्षात् शीलधर्म की महिमा देखकर आश्चर्य चकित रह गया।

पश्चात् राजा ने धर्मात्मा राजश्रेष्ठी जिनेन्द्र दत्त के लिये अनन्तमती को सोप दिया. सेठ अपने घर लाकर पुत्रीवत् उसका पालन करने लगा, अनतमती निरन्तर भगवान की पूजा, भक्ति स्वाध्याप एव आत्मचितन मे ही लीन रहने लगी। उसे अब ससार

की दु.खमय दशा देखकर उससे अत्यन्त विरक्ति हो गई। उसका वैराग्यमय जीवन कमलश्री नाम की अर्जिका के चरण कमलों में धर्म ध्यान पूर्वक बीतने लगा।

(७)

इधर चम्पापुरी में प्रियदत्त सेठ और उनकी स्त्री दोनो अपनी पुत्री के वियोग हो जाने से अत्यत दु खी थे। हाय ! हमारी फूल सी सुकुमार पुत्री की क्या दशा होगी ? कहा होगी वह, न जाने उसे कैसे दु ख सहन करना पड रहे होंगे ? हे प्रभो ! उसकी रक्षा करना रह-रहकर उन्हे पुत्री की याद सताने लगी, अपने दु खो को भुलाने के लिये वे अपनी बहिन वसुदेवी के यहा चले गये।

स्नानादि क्रियायो से निवृत्त होकर प्रियदत्त जिनालय मे दर्शन करने गये। वहाँ मन्दिर के दरवाजे पर रत्नचूर्ण का चौक पूरा हुआ था, उसे देखकर वे आश्चर्य स रोने लगे, उसे अनन्तमती का स्मरण हो आया, क्योंकि अनन्तमती भी ऐसे ही चौक पूरा करती थी।

वसुदेवी ने भाई से रोने का कारण पूछा- तब दु खित मन से प्रियदत्त बोले— 'मेरी पुत्री अनन्तमती भी ऐसे ही चौक पूरा करती थी, इस चौक को देखकर मुझे उसका स्मरण हो आया"

तब वसुदेवी ने कहा—"भाई ! यहा पर एक लडकी है जो अत्यन्त शीलवान, गुणवान, आत्मज्ञ और विदुषी है। उसने अन्दर जाकर सकेत से उस कन्या को दिखा दिया।

प्रियदत्त उस अनुपम सुन्दरी कन्या को देखते ही अनन्तमती.. .. अनन्तमती.,......कहते हुए दौड़े और उसको गोद मे उठा लिया।

"जैसे भिखारी को राज्य मिलने से, भूखे को भोजन मिलने से प्यासे को पानी मिलने से जो आनन्द होता है उससे अधिक आनन्द प्रियदत्त को अनन्तमती के मिलने से हुआ। स्नेह से प्रियदत्त की आंखों मे आनन्दाश्रु भर आये, वह गद् गद् हृदय से पूछने लगे "बेटी इतने दिन तूने किस विपत्ति मे बिताये, मुझे उसका सम्पूर्ण बृतान्त सुना। मेरा हृदय तेरे वियोग से कब से तड़फ रहा है।"

अनन्तमती पिता को अपनी सम्पूर्ण कहानी सुनाने लगी उसकी दु:ख भरी कथा सुनकर उनकी आख से टप-टप आंसू टपकने लगे। अनन्तमती ने अपने पिता को धैर्य बधाया।

"पिताजी! अब तो जो कर्म की काली घटा छाई थी वह बरस कर समाप्त हो गई, होनहार को टालने में कोई समर्थ नहीं। अत. आप बीती हुई बात का विचार न करे।'

"इस संसार मे तो समस्त जीव नित उठ यह चाहते हैं कि – मेरे वियोग, मरण, हानि, अपमान, धन का नाश, रोग, वेदना न हो। निरन्तर इसकी शंका करते हैं, भयभीत रहते हैं, तो भी वियोग, मरण, धनहानि, बलहानि, अपमान, रोग, वेदना आदि पूर्व कर्म-बंध के अनुकूल होता ही है। उसके हरने में, देने में एवं टालने में कोई मन्त्र, तन्त्र, देव, दानव, इन्द्र, जिनेन्द्रादिक भी समर्थ नहीं है। अपने भावों से किये कर्मबंध, संतोष, क्षमा, तपश्चरणादिक भावों से आप ही टालने में समर्थ है, अन्य नहीं।' नि:शक और निर्वाञ्छक सम्यग्दृष्टि के ऐसा ही दृढ़ श्रद्धान होता है।"

"जो कर्म फल अरु सर्व धर्मों की न वांछा धारता।
चिन्मूर्ति वो कांक्षा रहित, सम्यक्त्वदृष्टि जानना।'

जब प्रियदत्त ने अनन्तमती से विवाह करने की बात कही तो

अनन्तमती बोली—'पिताजी; क्या आप भगवान त्रिलोकीनाथ के सामने लिये गये ब्रह्मचर्य व्रत को भूल गये ?

आश्चर्यान्वित होकर प्रियदत्त कहने लगे—'बेटी; वह तो मैंने तुझे मनोविनोद मे दिलाया था, गृहस्थ धर्म में रहकर भी धर्म का पालन हो सकता है।

अनेक प्रकार से समझाने पर भी अनन्तमती न मानी और अपना निर्णय समझाती हुई बोली—"पिताजी ! क्या भिक्षुक अपनी मिली हुई निधि को छोड सकता हैं, पुण्योदय से प्राप्त अपने नेत्रो को कौन मूर्ख फोड़ना चाहेगा ? इसी तरह पिताजी ! मैं भी सौभाग्य से प्राप्त हुए धर्म को नहीं छोड़ना चाहती, मैंने ससार की विचित्र लीला अच्छी तरह देख ली है, मेरी प्रतिज्ञा सुमेरू के समान दृढ़ है प्रतिज्ञा की पवित्रता ही जीवन का सौन्दर्य है। मैं दुर्लभता से



प्राप्त संयम रूपी रत्न को व्यर्थ खोना नहीं चाहती। **संयम छोड़कर विषय भोगों की अभिलाषा वह तो अमृत छोड़कर जहर पीने जैसा ही अकार्यकारी है।"**

इस प्रकार परिवार वालो को समझाकर उसने कमल श्री आर्यिका के पास जाकर जिनदीक्षा ले ली और नि.कांक्षित भाव से कषाय और विकारो को उग्र तपश्चरण के द्वारा भस्म कर दिया। अन्त मे समाधिमरण धारण कर बारहवे स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुई। वह शुद्धात्मा भविष्य मे मनुष्य पर्याप धारण कर परमात्मा बन जायेगी।

अहो! धन्य हे उन ज्ञानियो को, जो कांक्षाओं के पार अपना नि:कांक्षित जीवन जीकर आत्मा से परमात्मा बन गये हैं, बन रहे है और भविष्य मे बनते रहेगे।



।। सम्यक्त के अष्ट अंग का स्वरूप ।।

(सवैया)

धर्म मे न संशै शुभ कर्म फल की न इच्छा,
अशुभ को देखि न गिलानि आने चित्त मे।
साची दृष्टि राखे काहू प्राणी को न दोष भाखे,।
चचलता भानि थिति ठाने बोध चित्त मे।।
प्यार निजरुपसो उछाह की तरग उठे,।
एई आठो अग जब जागे समकित मे।
ताहि समकित को धरे सो समकितवत,।
वेहि मोक्ष पावे वो न आवे फिर इतमे।।

कथा-सार

* जिस तरह चक्रवर्ती की सम्पदा को छोड़कर झोंपड़ी ग्रहण करना मूर्खता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन एवं व्रतादि रत्नों को छोडकर विषय भोगों को ग्रहण करना भी महान मूर्खता है ।
* यन्त्र मन्त्र तन्त्र, मणि और औषधि आदि सब पुण्योदय तक साथ देते हैं, पुण्य के क्षीण होते ही समस्त वस्तुऐ निष्प्रभ हो जाती है ।
* प्रतिज्ञा न लेने का तो दोष नही है, पर लेकर भंग करना महापाप है ।
* जिसका मन निर्विकार होता है उसे त्रैलोक्य का वैभव भी आकर्षित नही कर सकता । सारा जगत स्वर्णमय हो जाये तो भी निर्वाच्छक ज्ञानियो को उसकी अभिलाषा नही होती, वाछा से तो पुण्य का घात होता है ।
* विषयी कीड़ विष्टा के समान त्याज्य भोगो मे आकण्ठ गर्थ होकर आनद मानते है और पागल कुत्ते की तरह भोगो की तरफ भाग-भाग कर प्राणान्त कर लेते है ।
* सयम छोडकर विषय भोगो की अभिलाषा वह तो अमृत छोड़कर जहर पीने जैसा अकार्यकारी है ।
* सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का विषय भोगो के प्रति नि काक्षित भाव (उदासीन भाव) ही होता है ।

३. सच्चा सौन्दर्य

रत्नत्रय से जो पवित्र हो, स्वाभाविक अपवित्र शरीर।
उसको ग्लानि कभी नहिं करना, रखना गुण पर प्रीति सधीर ।।
'निर्विचिकित्सित' अंग तीसरा, यह सुजनों का प्यारा है।
पहले 'उद्दायन' नरपति ने, नीके इसको धारा है ।।

भरत क्षेत्र मे अनुपम सुन्दर रत्न और मणियो से परिपूर्ण नन्दन वन के समान वन वाटिकाओ से शोभित कच्छ नाम का देश है। इसी मनोज्ञ धनधान्य से परिपूर्ण देश में रौरवपुर नाम का मनोहर नगर है। इसमे महा मण्डलीक राजा उद्दायन राज्य करते थे। वह कल्पवृक्ष के समान उज्ज्वल कीर्ति के धारी, अनेक गुण सम्पन्न सम्यग्दर्शन की साधना मे सुमेरुवत् निश्चल थे। उनके दान और यश की पताका सर्वत्र फहरा रही थी। प्रजा बहुत सुखी और निर्भय थी। सौन्दर्यशाली और गुणवान उनकी प्रभावती नाम की रानी थी।

एक दिन स्वर्गलोक मे सौधर्म इन्द्र की सभा मे धर्म की चर्चा चल रही थी। इन्द्र सम्यग्दर्शन और उनके नि शंकितादि अगों की महिमा का बखान कर रहा था। इन्द्र ने निर्विचिकित्सा अग का वर्णन करते हुए कहा-

"सम्यग्दर्शन पूर्वक धर्माराधना करने वाला ज्ञानी अशुभ-कर्मोदय से प्राप्त हुई अशुभ सामग्री मे विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि नही करता और अपने परिणामो को भी नही बिगाड़ता। वह विचारता है कि मैंने जैसा पूर्व मे कर्म बांधा है वैसा ही भोजन, पान, स्त्री, पुत्र, दारिद्रय, रोग, शोक, सपदा, विपदा आदि को प्राप्त किया है। तथा अन्य किसी रोगी, दरिद्री, हीन, नीच, मलिन

वस्तु को देखकर परिणाम नही बिगाडता। पाप की सामग्री जान कलुषता नही करता, मलमूत्र कर्दमादिक द्रव्यो को देख भयंकर श्मशान वनादि क्षेत्रो को देख, भयरूप दु खदायी काल को देख, दुष्टता, कडवापन इत्यादिक वस्तु का स्वभाव देखकर भी परिणामो मे ग्लानि नही करता।'

तभी एक देव जिज्ञासापूर्वक खडा होकर बोला—

'हे स्वामिन ! सम्यग्दर्शन का निर्दोष पालन करने वाले निर्विचिकित्सा अग के धारक इस समय भरत क्षेत्र मे कितने जीव विद्यमान है ?

तब सौधर्म इन्द्र समाधान करता हुआ बोला--हे भव्य, इस भरत क्षेत्र मे रौरवपुर नाम के नगर मे निर्मल एव उदार गुणो का धारी, जिन—चरणो का भ्रमर के समान सेवन करने वाला, भव्य जीवो के द्वारा स्तुत्य उद्दायन नाम का राजा निर्दोष सम्यग्दृष्टि है एव निर्विचिकित्सा अग का पालन करने मे पूर्णतया सावधान है।' इस प्रकार इन्द्र ने अपनी सभा मे राजा उद्दायन की बहुत प्रशसा की

'दोष रहित, गुण सहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजै हैं।
चरितमोह वश लेश न संयम, पै सुरनाथ जजै है ।।

(२)

"इतने बडे भरत क्षेत्र मे अकेले राजा उद्दायन ही सम्यग्दृष्टि है, आश्चर्य है, और कोई सम्यग्दृष्टि नही, धर्म-धर्मात्माओ से वात्सल्य रखने वाले नही। धर्मात्मा जीव दिखाई तो बहुत देते है, क्या वे सब मिथ्यादृष्टि है ? उनका धर्म साधन आडम्बर मात्र है, चलकर उनकी परीक्षा करना चाहिये।" इन्द्र की बात सुनकर

वासवदेव को इस प्रकार का विचार आया और उसने मनुष्य लोक में जाकर सबकी परीक्षा करने का विचार बनाया।

पश्चात् अपनी विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से उसने मुनि का वेष धारण किया और तत्काल भरत क्षेत्र मे पहुच गया।

शरीर को एकदम कृश, नाक और कानो को बेढगा, आँखों से दुर्गन्धित पानी बहाते हुए, समस्त शरीर से खून, पीब, मास निकालते हुए, गलित कुष्ठ, क्षीणकाय, हड्डियां का ढाचा-मात्र, आंतें निकाले हुए अपना वीभत्स रूप धारण कर लिया। शरीर इतना दुर्गन्धित कि लोग दूर से ही देख कर घृणा करे। किसी की सामने आने की भी हिम्मत न हो।

वह जिस गाव में भी गया, उसी मे महान दुर्गन्ध छोडता हुआ गया। उसकी दुर्गन्ध के कारण कही पर भी उसको आहार न मिला। नामधारी श्रावक तो उसको देखते ही छिप जाते। इस प्रकार अनेक नगरो मे घूमता हुआ और धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड रचने वालो को देखता हुआ वह शैरवपुर नगर मे आया। उसके रोगी, कोढी, दुर्गन्धित, घृणित शरीर को देखकर सभी नगर के लोग घबरा गये और तरह-तरह से उसकी निन्दा करने लगे।

"इतना भयकर कोढ होने पर भी इसे खाने की इच्छा है। शरीर सड गया है, हाथ पैर गल गये है, मौत के दिन निकट है, यह मर क्यो नही जाता। यह बदकिस्मत न जाने क्यो जीना चाहता है, आशा बडी बुरी चीज है। इस जीव का आशारूपी गड्ढा इतना बडा है कि तीनो लोक की समस्त सम्पत्ति भी उसमे राई के दाने के समान है। खाने-पीने की अभिलाषा से यह पापी मरना भी नही चाहता। इस अकेले ने सम्पूर्ण नगर वालों को परेशान कर दिया है।"

इस प्रकार अनेक लोगो की अनेक आलोचनाओं को सुनता हुआ एव ससार के मोही-पागल विषयासक्त जीवो के नाना प्रकार के कटाक्ष बाणों को झेलता हुआ वह मुनिवेश धारी वासवदेव आगे बढ गया।

"जो बगुला के समान ध्यान करने वाले ऊपर से भक्त श्रावक-धर्मात्मा नजर आते हैं, वे परीक्षा करने पर असफल एवं पाखण्डी ही सिद्ध होते हैं। जिसके हृदय में धर्म के प्रति सच्ची रुचि होती है उसे धर्मात्मा के प्रति भी वात्सल्य भाव उमड़े बिना नहीं रहता। ज्ञानियों का समागम मिलना कल्पवृक्ष समान दुर्लभ एवं सुखदायी है।"

मुनिराज के आगे जाने पर एक व्यक्ति बोला—"अरे! इसकी दुर्गन्ध से तो नाक फटी जा रही है, इसे तो किसी कुए या तालाब में गिरा देना चाहिये। दूसरा बोला—ऐसे गन्दे लोगो को नगर मे घूमते शर्म नही आती, सारे नगर को परेशान कर रखा है, इसे तो भट्टी मे जला देना चाहिये। "अरे! जिनका हृदय पापो से भरा है, उन पापी जीवो को और कैसे विचार आ सकते है? कृत-कारित और अनुमोदना से यह जीव निरन्तर कर्म बाधता है। **"हँस-हँस कर बांधे गये कर्मों के फल को नरकादि गतियों में जाकर रो-रो कर भोगना पड़ता है। इसलिये हे जीव! कर्म बंधन में सावधान रहना।"**

एक श्रावक सोचने लगा—"आज तक मुनियो को आहार देते-देते मेरी अगुलिया घिस गई है, पर इन्हे आहार दू या नही। दूसरा बोला—तुम्ही पडगाहन कर लो। तीसरा बोला—ऐसे मुनिराज को घर ले जाने से स्त्री नाराज होगी।"

कोई प्रशसा करते हुए बोला—"अरे! इन दुर्धर चारित्रवतों को धन्य है। ऐसा अशुभ कर्म का उदय होने पर भी अपने मुनि धर्म

को नही छोड़ते ।" अन्य कहने लगा—"अहो मुनिधर्म तो वास्तव में शूरवीरों की साधना है, धन्य है इनकी वीरता को ।"

इस प्रकार निन्दा-प्रशसा करने वाले तो मिले पर उन्हे कोई आहार देने वाला न मिला। खून-पीब आदि टपकने के कारण कोई उनके समीप जाने को तैयार न हुआ। मुनिवेष धारी वासवदेव ने जब सारी नगरी मे घूम लिया और कोई सच्चा श्रावक न मिला तो वह सोचने लगा—

"जैसे सभी वृक्ष फलों के बिना समान दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु फल आने पर सभी फलों का स्वाद अलग-अलग प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि बाह्य क्रियाओं में समान दिखने पर भी, अवसर आने पर दोनों का भेद प्रकट हुए बिना नहीं रहता।"

इस प्रकार ऊहापोह करने के पश्चात् वासवदेव ने राजा उद्दायन की परीक्षा करने का निर्णय किया और वह राजदरबार की ओर चल दिया।

(३)

राजा उद्दायन उस समय राजसभा मे सिंहासन पर आसीन थे। जिस प्रकार नक्षत्रो के बीच चन्द्रमा शोभा देता है, उसी तरह अमात्य, विद्वानों, सभाजनो के बीच राजा शोभा को प्राप्त कर रहे थे। राजसभा इन्द्रसभा तुल्य प्रतिभासित हो रही थी।

राजा ने जब उन मुक्ति दूत मुनि भगवन्त को महल की ओर आते देखा तो उनके रोम-रोम पुलकित हो गये। उनका चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा।

"अहो ! धन्य है, आज साक्षात् मोक्षमार्ग मेरे आंगन मे आ गया है, चलते-फिरते सिद्ध भगवन्त मेरी कुटिया पर पधार गये हैं। इस भूमि का कण-कण पवित्र हो गया। धन्य है वीतरागी सन्तों को। अरे ! मेरा भी कब वह धन्य अवसर आये जब निर्ग्रन्थ मार्ग मे विचरण करू ।

"सन्त साधु बन के विचरु, वह घड़ी कब आयेगी।"

इस प्रकार भावना भाता हुआ वह राजा तुरन्त आसन से खडा हो गया और तत्काल शुद्ध वस्त्र पहनकर मुनिराज के पडगाहन के लिये आ गया। नवधा भक्ति पूर्वक उन्हे पडगाहन करके उच्च आसन पर बैठाया। और उनकी पाद प्रक्षालन पूर्वक स्तुति की।

मुनिवेषधारी वासवदेव ने वहा इतनी गध छोडी कि नाक बद करके रहना भी दुष्कर हो गया। दुर्गन्ध सहन न होने से बहुत से लोग भाग गये पर कुछ लोग राजा के भय से नीचा मुख किये खडे रहे। अन्य रानियां भी दुर्गन्ध से घबरा कर भाग गई, किन्तु पट्ट महिषी प्रभावती ने मुनिराज के आहार की तैयारी की।

मुनिराज के प्रति अत्यन्त वात्सल्य से मानो उसे पता ही न पडा कि उनकी देह से दुर्गन्ध आ रही है। वह तो स्वभाव से मुनिराज के दर्शन कर रही थी न कि शरीर से। **मुनि धर्म आत्मा की क्रिया है, शरीर की नहीं।** शरीर तो जड परमाणुओ का सयोग है। उसके विचित्र स्वभाव का ज्ञानी भली-भाति जानते है इसलिये उन्हे उसके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न नही होता।

राजा उद्दायन भी विचार करने लगा—"अहो ! कैसा श्रेष्ठ रत्न इस मैलरूपी थैली मे पड गया है, इसे तो कचन जैसी काया मे होना चाहिये था। धन्य है इनकी साधना को ! जो ऐसा तीव्र कर्म का उदय होने पर भी अपनी आत्म साधना को नही छोडते।

अरे ! ऐसी रोग, दुर्गन्धमय, मलमूत्र की खान यह देह भी रत्नत्रय के धारण से पूज्य और पवित्र हो गई।"

अहो धन्य है ! ज्ञानी देह की अशुचिता नही स्वरूप का सच्चा सौन्दर्य देखते है।

इस प्रकार भक्ति करते हुए प्रभावती रानी और राजा उद्दायन ने मुनिराज को नवधा भक्ति पूर्वक आहार कराया। मुनिराज ने भी आकण्ठ पर्यन्त खूब भोजन किया, जिससे उनका शरीर कापने लगा, आखों की पुतलिया निकल आयी, श्वास तेज हो गई, तथा शरीर की दुर्गन्ध भी बहुत तेज हो गई जिससे बचे हुए लोग भी घबरा कर भाग गये केवल राजा और रानी ही वहा खडे रह गये। इतना करने पर भी जब उनको कुछ न हुआ तो मुनिराज ने राजा और रानी पर जोर से वमन कर दिया जिससे उनका सारा शरीर वज्रलेप हो गया। इससे भी राजा और रानी को जरा भी घृणा न हुई, बल्कि उन्हे यह चिन्ता हो गई कि न जाने आहार मे क्या भूल हो गई जिससे मुनिराज को यह अपार कष्ट हुआ है। राजा बारम्बार अपने को धिक्कारने लगा। धिक्कार है, हमारे अशुभ कर्मोदय को ! कि मेरे घर मुनिराज का निर्विघ्न आहार भी न हो सका। मैं कैसा पापी हूँ जो मुनिराज को उनकी प्रकृति के अनुकूल भोजन न दिया और इसीलिये मुनिराज को वमन हो गया।

"सच है भाग्यहीनों को मनोवांछित प्रदान करने वाला चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता। उसी तरह निरन्तराय सुपात्र का दान भी पापी पुरुषो के नहीं हो पाता। सुपात्र दान के फल से तो आत्मा परमपद प्राप्त कर लेता है। ऐसा सुपात्र का लाभ भी किसी महान भाग्यशाली को ही होता है। जगत मे भी कुपात्र जीव बहुत है, परन्तु सुपात्र जीव तो कोई विरला पुरुष ही होता है, जिसमे सम्यग-



दृष्टि धर्मात्मा जघन्य सुपात्र, व्रती श्रावक मध्यम सुपात्र, और भावलिगी मुनिराज तो उत्कृष्ट सुपात्र है, शेष सब मिथ्यादृष्टि कुपात्र एव अपात्र है जिनके दान से यह जीव कुगति को प्राप्त होता है

अहो ! आज मेरे सुपात्र का लाभ न हो सका इसका बहुत खेद है ।"

इस प्रकार आत्मालोचना करते हुए राजा उद्दायन ने गर्म जल से मुनिराज के शरीर का प्रक्षालन किया । स्वच्छ वस्त्र से शरीर को साफ करके स्वच्छ आसन पर बैठाया । पश्चात् दोनो ने मुनिराज की भक्तिपूर्वक स्तुति की ।

वासवदेव उनके धर्मवात्सल्य को देखकर बहुत प्रभावित हुआ । उनके निर्विचित्सा अग को देखकर सोचने लगा इनके निर्दोष सम्यग्दर्शन को धन्य है ! यही सच्चे मोक्षाधिकारी है, बाकी तो सब नामधारी हैं । इनकी श्रद्धा और भक्ति को धन्य है ! इन्द्र ने सभा मे जो इनके गुण वर्णन किये थे, ये तो उससे भी बढकर गुणवान एव श्रद्धावान है । इस तरह अन्दर ही अन्दर उनकी प्रशसा करते हुए उसने अपने दिव्य देवत्व को प्रगट कर दिया ।

राजा यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया, और विनम्रता से पूछने लगा—" हे बन्धु ! आप कौन है ?"

वासवदेव अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त राजा को सुनाते हुए बोला—"हे राजन ! आप सच्चे धर्माधिकारी है । जैसा आपके गुणों का वर्णन सुना था, उससे भी बढकर आपको पाया । मेरे कारण आपको जो कष्ट हुआ, उसे आप क्षमा करे । आप दोनों ही वास्तव मे **नैष्ठिक** धर्मात्मा और सच्चे सेवाभावी हैं । सचमुच आप देवो द्वारा स्तुत्य हैं । आप दोनो वास्तव मे धर्मरत्न है, रत्नत्रय आपका आश्रय लेकर धन्य हुआ है । **बाह्यवेषधारी तो बहुत हैं, पर अहो ! इस निकृष्ट काल में सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भी जुगनू की तरह यत्र तत्र ही कहीं नजर आते हैं । वस्तुस्वभाव को यथार्थ जानने वाले**

ज्ञानी ही वास्तव में निर्विचिकित्सा अंग का यथार्थ पालन कर सकते हैं।"

"सब वस्तुधर्म विषै, जुगुप्सा भाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति "निर्विचिकित्स" वो सद्दृष्टि निश्चय जानना ॥"

इस प्रकार वह देव राजा उद्दायन की बारम्बार प्रससा करता हुआ एवं जिन धर्म की महिमा गाता हुआ स्वर्गलोक की ओर अपने गन्तव्य को चला गया। राजा अपनी साधना मे पुनः निरत हो गया। अहो ! ऐसे धर्मरत्नों से ही 'धर्म' अलकृत है।

समकित सावन आयो

अब मेरे समकित सावन आयो ॥ टेक ॥
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो ॥
अब मेरे समकित०

अनुभव-दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो।
बोले विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन भायो ॥
अब मेरे समकित०

गुरु धुनि गरज सुनत सुख उपजै, मोर सुमन विहसायो।
साधक भाव अकुर उठे बहु, जित तित हरष सवायो ॥
अब मेरे समकित०

भूल धूल कहि मूल न सूझत, समरस जल झर लायो।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर, जिन निरचू घर पायो ॥
अब मेरे समकित०

कथा-सार

* सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अशुभकर्मोदय से प्राप्त हुई अशुभ सामग्री मे विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि नही करता ।
* जो बगुला के समान ध्यान करने वाले ऊपर से धर्मात्मा नजर आते है, वे परीक्षा करने पर असफल हो जाते है । सच्चे ज्ञानियो का समागम मिलना तो कल्पवृक्ष के समान दुर्लभ एव सुखदाई है ।
* हंस-हॅस कर बाधे गये कर्मों को नरकादि गतियों मे रो-रो कर भोगना पडता है, इसलिये हे आत्मन् ! कर्म बन्धन मे निरन्तर सावधान रहना ।
* सम्यग्दृष्टि एव मिथ्यादृष्टियो का बाह्य आचरण समान दिखने पर भी अवसर आने पर भेद प्रगट हुए बिना नही रहना ।
* परमपद को प्राप्त कराने वाला सुपात्र दान का लाभ भी किसी महान भाग्यशाली को ही मिलता है । जगत मे कुपात्र जीव बहुत है, जिनके दान से जीव के मिथ्यात्व का पोषण होता है और कुगति की प्राप्ति होती है ।
* अहो ! इस निकृष्ट काल मे वस्तु तत्व को यथार्थ जानने वाले सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भी जुगनू की तरह यत्र तत्र कही विरले ही नजर आते हैं ।

---

४. अचलित विश्वास

दुःखकारक हैं कुपथ-कुपंथी, इन्हें मानना नहिं मन से।
करना नहिं सम्पर्क सस्तुती, यश गाना नहिं बचनों से॥
चौथा अंग "अमूढ़दृष्टि" यह, जग में अतिशय सुखकारी।
इसको धार 'रेवती रानी', ख्यात हुई जग में भारी॥

विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी मे मेघकूट नाम का प्रसिद्ध मनोहर नगर है। वहा के राजा चन्द्रप्रभ बडे विचारशील, वैराग्य-वत, धर्मवत्सल एव नीतिवान राजनीतिज्ञ थे। बहुत समय तक निष्कटक, शातिपूर्वक राज्य करते हुए एक बार उन्हे तीर्थ यात्रा करने की इच्छा हुई। अपना सम्पूर्ण राज्यभार अपने प्रिय पुत्र को सौपकर भक्ति भावना से यात्रा के लिये चल दिये।

बहुत से सिद्ध क्षेत्रो एव अतिशय क्षेत्रो की उन्होने यात्रा की। यात्रा करने मे उनके परिणाम बहुत निर्मलता को प्राप्त हुए। स्वय ससार के कारागृह से छूट कर सिद्ध बनने की भावना उनके हृदय में जागृत हुई, धर्मध्यान करने का प्रबल पुरुषार्थ उनके हृदय मे जागृत हुआ। मोह का बधन शिथिल पड गया, कषाये अत्यन्त मद हो गई। यात्रा करने का वास्तविक लाभ उन्हे मिला।

"भाव सहित बन्दे जो कोई, ताहि नरक-पशुगति नहिं होई।"

इस प्रकार यात्रा करते-करते वे दक्षिण मथुरा मे आये। वहां उनको गुप्ताचार्य के दर्शन हुए। मुनिराज के दर्शन कर उनके धर्म संस्कार पल्लवित हो गये। अत्यन्त विरक्त हृदय से उन्होने मुनि-

राज के निकट ही क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली। अपनी समस्त विद्याओं को तिलाञ्जलि देकर एक विद्या अपने पास रख छोड़ी।

एक दिन उत्तर मथुरा की यात्रा करने का उनका मन हुआ। उन्होने अपना मन्तव्य गुरु के चरणों में प्रकट किया और पूछा—"हे करुणासिंधु ! मैं यात्रा करने के लिये जा रहा हूँ यदि आपको कुछ सन्देशा कहना हो तो कहिये ?"

तब गुप्ताचार्य बोले—"मथुरा मे सुव्रत नाम के गुणवान और धर्मधुरन्धर मुनिराज हैं उनको मेरा नमस्कार कहना और सम्यग्दृष्टि महारानी रेवती को मेरी ओर से 'धर्म वृद्धि' कहना।

"महाराज ! और तो किसी से कुछ नही कहना ?"

"नही"

सुनकर चन्द्रप्रभ विचार मे पड़ गये कि एकादशाग के ज्ञाता भव्यसेनादि अन्य मुनियो तथा सम्यग्दृष्टियो के होते हुए भी उन्हें कुछ नही कहा ? इसका कोई कारण जरूर होना चाहिये ? अस्तु ! जो कारण होगा वह चलने पर स्वय ज्ञात हो जायेगा, व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ। ऐसा विचार कर वे वहा से चल दिये।

(२)

उत्तर मथुरा पहुच कर उन्होंने सुव्रत मुनिराज को गुप्ताचार्य की वन्दना कह सुनाई। मुनिराज ने धर्मवात्सल्य पूर्वक बहुत प्रसन्नता व्यक्त की और चन्द्रप्रभ को "धर्मवृद्धि" का शुभाशीर्वाद दिया। चन्द्रप्रभ मुनिराज का वात्सल्य देखकर बहुत प्रभावित हुए। उनकी मधुर समरस वाणी ने चन्द्रप्रभ का रोम-रोम पुलकित कर दिया। वह मुनिराज के चरणो मे नतमस्तक होकर वहा से चल दिये।

तदनन्तर क्षुल्लक चन्द्रप्रभ एकादशांग के ज्ञाता मुनिराज भव्य-सेन के पास गये। उन्होंने भव्यसेन को सादर नमस्कार किया। परन्तु भव्यसेन ने अभिमानवश चन्द्रप्रभ को 'धर्म वृद्धि' भी न दी।

"धिक्कार! इस अभिमान को जिसके कारण जीव के वचनों में भी दरिद्रता आ जाती है। जो ज्ञान मान के नाश का कारण था, अज्ञानी उस ज्ञान का ही मान कर लेता है।

सर्प को पिलाये गये दूध की तरह अपात्र जीवों का शास्त्रज्ञान भी कार्यकारी नहीं होता। पापियों के हाथ में अमृत भी ।विष हो जाता है।

अरे! ऐसे अज्ञानी गुरु जीवो को ससार सागर से पार होने के लिये पत्थर की नौका के समान हैं। जो स्वय ससार में डूबते है, और अपने साथियो को भी डुबोते है।

"ते कुगुरु जन्म जल उपल नाव"

प्रात काल मुनि भव्यसेन जब शौच निवृत्ति के लिये जा रहे थे, तब चन्द्रप्रभ क्षुल्लक भी उनकी पात्रता अकित करने के लिये उनके पीछे-पीछे चल दिये। चन्द्रप्रभ ने अग्रभाग की भूमि को अपनी विद्या के बल से कोमल और हरे-हरे तृणो से युक्त कर दिया। भव्य-सेन तृणाकुरो से आच्छादित भूमि को देखकर विचारने लगे कि जिनागम मे तो इनको एकेन्द्रिय जीव कहा है और इनकी हिसा से तो विशेष पाप नही होता। ऐसा सोचकर उस पर से निकल गये।

आगे चल कर जब शौच से निवृत्त हो चुके तो कमण्डल की तरफ देखा, तो कमण्डल औधा पडा हुआ था और उसमे पानी की एक भी बूद न थी। चन्द्रप्रभ ने अपनी विद्या के बल से सामने

एक सरोवर की रचना कर दी थी और कमण्डल का पानी सुखा दिया था।

भव्यसेन ने सोचा यहा कोई देखने वाला तो है नहीं इसलिये सामने सरोवर है, उसी मे जाकर शौच प्रक्षालन कर लिया जाय और अपने पद का ख्याल न कर के बिना छने जल से ही शौच निवृत्ति करली।

"मूर्ख पुरुष घोर मिथ्यात्व के वश में क्या क्या निषिद्ध कार्य नही करते। जैसे सूर्य का उदय उल्लू को सुख का कारण नहीं होता, वैसे ही **अभव्य एवं अपात्र जीव का शास्त्र ज्ञान एवं चारित्र पालन भी कार्यकारी नहीं होता।** कड़वी तु बी मे रखा हुआ मीठा दूध भी स्वयमेव कडवा हो जाता है।"

"सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी, सर्प नहिं निर्विष बने ॥"
अणुमात्र भी रागादि का, सद्भाव है जिस जीव को।
वो सर्व आगमधर भले ही, जानता नहीं आत्म को ॥"

"अनादिकाल के परिभ्रमण में जीव ने, अनंत बार शास्त्र श्रवण, अनंत बार विद्याभ्यास, अनंत बार जिनदीक्षा, अनंत बार आचार्यत्व भी प्राप्त किया है पर अपात्रता के कारण वह गुणकारी अर्थात् भव निवृत्ति रूप नहीं हुआ।"

"समझ में आये बिना आगम भी अनर्थ कारक हो जाता है।"

चन्द्रप्रभ को भव्यसेन की आगमविरुद्ध मिथ्या प्रवृत्ति देखकर ख्याल मे आया कि यह वास्तव मे भव्यसेन नही 'अभव्यसेन' है। गुप्ताचार्य ने जो इनको वन्दना नही की वह यथार्थ है। ऐसे दुराचारी एव पापी ज्ञानियो के द्वारा त्रिकाल मे भी वदनीय नही होते।

"जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा ज्ञान-चरित्र में भी भ्रष्ट हैं वे पुरुष भ्रष्टों में भी अत्यंत भ्रष्ट हैं। वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही तथा अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं।"

"जो मिथ्यादृष्टि होकर भी सम्यग्दृष्टियों को अपने पैरों पडवाना चाहते हैं, वे तीव्र मिथ्यात्व के उदय सहित हैं और परभव मे लूले-मूक अर्थात् एकेन्द्रिय होते है। पश्चात् अनन्तकाल निगोद-वास करते हैं, क्योकि **मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है। इसीलिए इसे सप्तव्यसन से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है।**

जो पुरुष दर्शन सहित होकर भी, यदि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं उन मिथ्यादृष्टियों को जानते हुए भी, लज्जा, भय या गौरव से उनकी विनयादि करते हैं, वे मिथ्यात्व की अनुमोदना करने से मिथ्यादृष्टि अर्थात् पापी ही हैं।"

इस प्रकार विचार कर क्षुल्लक चन्द्रप्रभ ने भव्यसेन की परीक्षा करके महारानी रेवती की परीक्षा करने का विचार बनाया।

"**अहो ! धर्म के मूल तो वीतराग-सर्वज्ञ देव ही हैं।** जो अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से सुशोभित एव जन्म-मरणादिक दोषो से रहित है एव समस्त जीवो के परम हितैषी है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त परिग्रही रागी-द्वेषी देवी-देवता वे सब कुदेव है। उनकी आराधना गृहीत मिथ्यात्व का कारण है।

समस्त कषायादि अन्तरग परिग्रह, वस्त्रादि बहिरग परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वीतरागी भावलिगी मुनिवर ही सच्चे गुरु हैं। शुद्धोपयोग के द्वारा प्रचुर स्वसवेदन ही जिनका भोजन है। आकाश ही जिनके वस्त्र है एव भूमि ही जिनकी शय्या है। ऐसे

अठाइस मूलगुण के धारी करुणासागर मुनिराज ही आराध्य गुरु है। अन्य वेषी, पाखंडी, रागी-द्वेषी ये हमारे गुरु नहीं है।

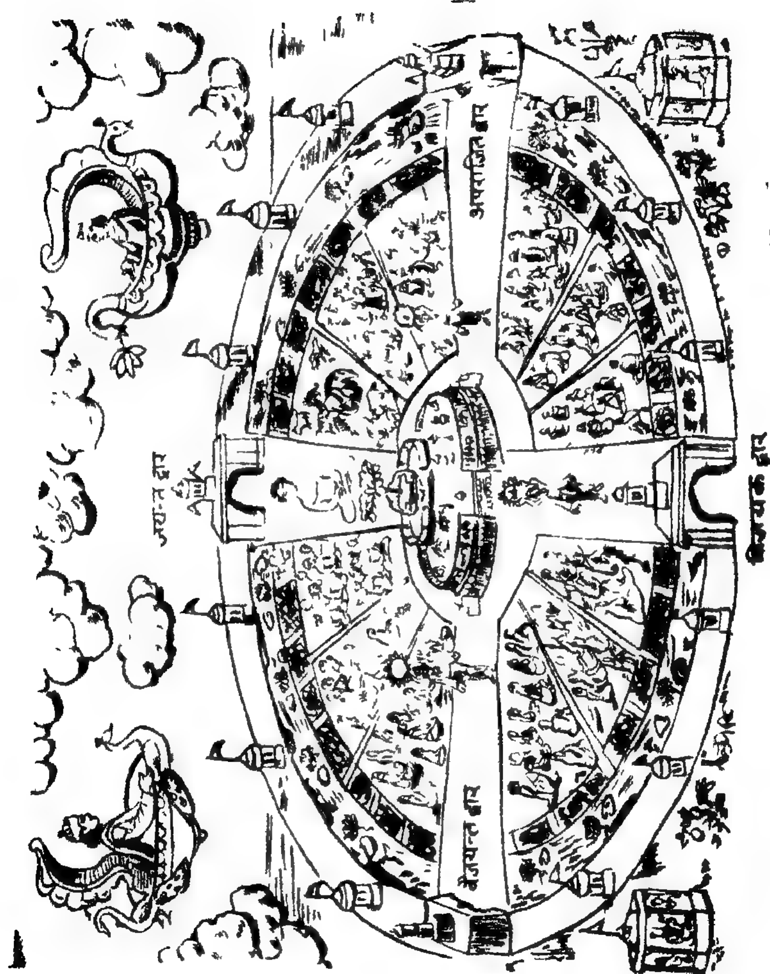
संसार सागर के दुखो से निकाल कर जो जीव को उत्तम आत्मीक, अविनाशी, अतीन्द्रिय सुख मे धारण करे, वह धर्म है। वस्तु का स्वभाव एवं आत्मा का अनुभव ही वास्तव में सच्चा धर्म है। जिसमे राग-द्वेष एव विषय-कषाय का पोषण हो वह सब कुधर्म है।

ऐसे सच्चे देव, गुरु, धर्म का यथार्थ निर्णय सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों को ही होता है।"

दूसरे दिन रानी रेवती की परीक्षा करने के लिये चन्द्रप्रभ ने अपना मायामयी जाल फैलाना शुरु किया। वे अपनी विद्या के बल से ब्रह्मा का रूप बनाकर नगर की पूर्व दिशा मे अपने वैभव के साथ जाकर जम गये। ये समाचार जब राजा वरुण सहित समस्त नगर निवासियो ने सुना तो प्रसन्नता से उनके दर्शनो के लिये चल दिये। अभव्यसेनादि भी उनके दर्शनो के लिये गये और जिन्हे सच्चे देव-शास्त्र-गुरू एव आगम पर श्रद्धा न थी, ऐसे अनेक श्रावक वृन्द भी दर्शनो के लिये गये।

राजा वरुण ने महारानी रेवती से भी चलने का आग्रह किया, पर उसने मना कर दिया। वह वीतरागी देव की ही सच्ची भक्त थी। उसने सोचा, ब्रह्म अर्थात् आत्मा उसमे लीन रहने वाले अरिहंत परमात्मा ही सच्चे ब्रह्मा है, अन्य कोई भेषधारी ब्रह्मा नही है। यह तो किसी मायावी ने जगत को ठगने के लिये अपना मायाजाल फलाया है।

दूसरे दिन क्षुल्लकजी विष्णु का वेष बनाकर दक्षिण दिशा में जाकर ठहर गये। सारा नगर राजा सहित अपना धन्य भाग्य मान कर उनक दर्शनो के लिये गया, परन्तु सम्यक्त्व भूषण रानी रेवती वहा अनुपस्थित ही रही।


अपराजित द्वार
जयन्त द्वार
वैजयन्त द्वार

तीसरे दिन उन्होंने शिव का वेष बनाया और पश्चिम दिशा को सुशोभित किया, पर रानी रेवती को अंगमात्र भी संशय न हुआ।

जब रेवती को वहां आया न देखा तो चौथे दिन उन बुद्धिमान क्षुल्लक ने मिथ्यादृष्टियो के अभिमान को चूर करने वाले, मान-स्तम्भादि सहित विशाल समवशरण बनाया जिसमे अष्ट प्रातिहार्य निर्ग्रन्थ मुनि, हजारों देव, विद्याधर, चक्रवर्ती, राजा, मनुष्यादि आकर जिनके चरणारविन्दो को नमस्कार करते है, ऐसा ससार मे श्रेष्ठ तीर्थंकर का वेष बनाकर उत्तर दिशा को अलकृत किया।

समवशरण सहित तीर्थंकर के आगमन का समाचार सुनकर समस्त नगर के नर-नारी, श्रावक, भव्यसेनादि मुनि वरुण राजा सहित वहा हर्ष पूर्वक दर्शनो के लिये गये। राजा सहित अनेक लोगो ने रेवती से चलने का आग्रह किया पर वह न गई।

त्रैलोक्य में उथल पुथल हो जाय पर ज्ञानी अपने श्रद्धान से नही डिगता। जिनागम पर अगाध श्रद्धा रखने वाली रानी रेवती सोचने लगी—"जिनागम मे तो चौबीस तीर्थंकर, नौ वासुदेव, ग्यारह रुद्र होना कहा है और वे तो सब हो चुके है, फिर यह दसवे वासुदेव, बारहवे रुद्र और पच्चीसवे तीर्थंकर कहा से आ सकते है? यह आगम विरुद्ध कार्य कैसे हो सकता है? यह तो किसी मायावी का अपनी धूर्तता से जगत को ठगने के लिये इन्द्रजाल है।" यह विचार कर वह दर्शनो के लिये नही गई।

"सागर कभी अपनी सीमा नहीं छोड़ते, अचल मेरु प्रचण्ड पवन से भी कभी चलायमान नहीं होता, इसी तरह ज्ञानी भी अपने निश्चल श्रद्धान से विचलित नहीं होते।"

"जिसे जिनागम पर श्रद्धान नहीं है उसके देव गुरु धर्म, व्रत, नियम, संयम सर्व व्यर्थ हैं। निर्बाध आगम ही इस दुःषमकाल में भव्यजीवों को संसार से पार होने के लिये हस्तावलंबन है। सर्वज्ञ कथित परमागम में तो त्रिकाल की घटनाओं का उल्लेख है, एक परमाणु भी जिनागम के विरुद्ध नहीं परिणमता। आगम के एक सूत्र की विराधना अथवा विपरीत आराधना का फल तो नरक-निगोद की अपार वेदना है।"

अतः रानी रेवती को जिनागम पर यथार्थ श्रद्धान होने से कि सर्वज्ञ की वाणी कभी अन्यथा नही हो सकती, वह मायावी प्रभावित न कर सका। उसे वस्तु के स्वरूप मे स्वप्न मे भी शका न हुई।

(४)

तदनन्तर जब रानी रेवती किसी भी तरह प्रभावित न हुई तो उसने स्वय उसके पास जाकर परीक्षा करने का विचार बनाया। "स्वर्ण को कितना ही अग्नि मे दिया जाय, वह उतना ही पवित्र होता हुआ चला जाता है और अन्त मे वही कसौटो पर कसने से खरा उतरता है।"

चन्द्रप्रभ क्षुल्लक के ही वेश मे अनेक प्रकार की व्याधि से ग्रसित होकर मध्यान्ह काल में भोजन के निमित्त महल मे जा पहुचे। आगन मे पहुचते ही मूर्छा खाकर गिर पडे। उनको देखकर धर्मवत्सला रेवती 'हाय-हाय' शब्द उच्चारण करती हुई, भागकर उनके पास आयी और बहुत भक्ति एव विनय पूर्वक उनको सचेत किया। पश्चात् अपने महल मे ले जाकर पवित्र भाव से हर्षपूर्वक प्राशुक आहार कराया।

' जिस तरह गाय को बछड़े से निःस्वार्थ प्रेम होता है, उसी तरह ज्ञानियों को सार्धमियों के प्रति भी निःस्वार्थ वात्सल्य होता है। बहुत समय से बिछुड़े हुए पुत्र को देखकर जैसे माता को प्रसन्नता होती है, उसी तरह ज्ञानियो को साधर्मियो के सम्मिलन से भी अपार हर्ष होता है। दयार्द्र ज्ञानी सदैव चतुर्विध :पात्र दान में तत्पर रहते है।"

क्षुल्लक चन्द्रप्रभ रेवती की इस अपार भक्ति, धर्मवात्सल्य और सम्यक्त्व मे दृढता देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—"देवि ! ससार में श्रेष्ठ मेरे परमगुरु महाराज गुप्ताचार्य की 'धर्मवृद्धि' तुझे कल्याणवर्द्धिनी हो ! तुम्हारे सम्यक्त्व को धन्य है। तुम्हारे जिन-शासन के निर्बाध-नि शक श्रद्धान को धन्य है। मैने अनेक तरह से परीक्षा की परन्तु तुम्हारे अचलित विश्वास को सुमेरू के समान अडिग पाया। आप जैसे धर्मरत्नो से ही यह वसुन्धरा धन्य हुई है। आपने ही अमूढ दृष्टि अग को अलकृत किया है।

आपने "देव-कुदेव का, धर्म-कुधर्म का, गुरु-कुगुरु का, पुण्य-पाप का भक्ष्य-अभक्ष्य का, त्याज्य-अत्याज्य का, आराध्य-अनाराध्य का, कार्य-अकार्य का, शास्त्र-कुशास्त्र का, दान-कुदान का, पात्र-अपात्र का, पूज्य-अपूज्य का, अनेकान्तरूप सर्वज्ञ-वीतराग के परमागम से यथार्थ जानकर निर्णय किया है। पक्षपात छोडकर व्यवहार-परमार्थ मार्ग मे आपने गमन किया है, अत आप धन्य है !"

"संमूढ़ नहिं सब भाव में, जो सत्यदृष्टि धारता।
वो मूढ़ दृष्टि विहीन, सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना॥"

इस प्रकार महारानी रेवती की बहुत-बहुत प्रशसा करते हुए उसको 'धर्मवृद्धि' कहकर क्षुल्लक चन्द्रप्रभ अन्यत्र विहार गये। रानी रेवती टक-टकी लगाकर उनकी ओर निहारती रह गयी।

कुछ समय पश्चात् रेवती को ससार से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हो गया, उसने भावनाओ का चिन्तन करते हुए जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। पश्चात् समाधिमरण पूर्वक ब्रह्मस्वर्ग मे महर्द्धिक देव हुई। भविष्य मे मनुष्य पर्याय धारण कर परमात्मपद प्राप्त करेगी।

"अहो! सम्यक्त्वरूपी नौका का आश्रय लेकर अनेक भव्यात्मा ससार-सागर मे तिर गये, तिर रहे है, और भविष्य मे तिरते रहेगे। श्रद्धान-ज्ञान की कोई अपूर्व महिमा है।"

"जे पूरब शिव गये-जाहि, अरु आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै है ॥"



धन्य है ज्ञानी की दशा

"अपने किये शुभाशुभ कर्म का फल जीव को न मिले तो ब्रह्माण्ड शून्य हो जाये। अशुभ कर्म का फल न मिले तो नरक गति शून्य हो जाये। शुभकर्म का फल न मिले तो देवगति शून्य हो जाये और यदि शुद्धोपयोग का फल न मिले तो सिद्धगति शून्य जाये। ज्ञानी जीव नवीन कर्म करते नही और उदयागत कर्म से घबराते नही। वह अनेको कर्म के थपेडे लगने पर भी अपने **ध्रुव चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन एक पल भी नहीं छोडते।"**

—विराग वाटिका, पृष्ठ ८४

कथा-सार

* सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओ की देव-गुरु-धर्म क प्रति मूढता नही होती। उन्हे वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु, एव दयामयधर्म का यथार्थ निर्णय होता है।
* अभिमान के कारण जीव के वचनो मे भी दरिद्रता आ जाती है। सर्प को पिलाये गये दूध की तरह अपात्र जीवो का शास्त्रज्ञान भी कार्यकारी नही होता।
* अनादिकाल के परिभ्रमण मे जीव ने अनन्तबार शास्त्रश्रवण, अनन्तबार विद्याभ्यास, अनन्तबार जिनदीक्षा, अनन्तबार आचार्यत्व भी प्राप्त किया हे परन्तु अपात्रता के कारण भव निवृत्ति रूप अर्थात् ससार के नाश का कारण नही हुआ।
* जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है तथा ज्ञान-चरित्र मे भी भ्रष्ट है, वे पुरुष भ्रष्टो मे भी अत्यत भ्रष्ट है और अन्य जनो को भी भ्रष्ट करते है। मिथ्या-दृष्टियो की अनुमोदना भी मिथ्यात्व का कारण होने से महापाप है। अत त्याज्य है।
* निर्बाध आगम ही इस दु षमकाल मे जीवो को ससार से पार होने के लिये हस्तावलबन है। आगम के एक सूत्र की विराधना एव विपरीत आराधना का फल नरकनिगोद है।

---

५. धर्मी का अवगुंठन

स्वयं शुद्ध जो सत्य मार्ग है, उत्तम सुख देने वाला।
अज्ञानी असमर्थ मनुज-कृत उसकी हो निन्दामाला।।
उसे तोड़कर दूर फेंकना, "उपगूहन" है पंचम अंग।
इसे पाल निर्मल यश पाया, "सेठ जिनेन्द्र भक्त" सुख संग।।

"व्यक्ति का स्वभाव सदा से ही दूसरो की गलतिया और दुर्गुण देखने का है। जैसे कौए की दृष्टि सुन्दर शरीर पर न जाकर निकलते हुए मास पर जाती है वैसे ही नीच पुरुषो का स्वभाव दूसरो के अवगुण देखने का ही होता है। उन्हे दूसरो के छोटे दोष भी बडे दिखते हैं, और अपने बडे दोष भी नजर नही आते। ऐसे **विरले ही भाग्यवान पुरुष होते हैं जो दूसरों के गुण और अपने अवगुण देखते हैं।** धर्मात्मा पुरुष तो अन्य साधर्मी का दोष दिखने पर भी उसे धर्म निन्दा के भय मे **उपगूहन** कर देते है अर्थात् ढक देते है।"

पाटलि नाम के अत्यन्त मनोहर नगर मे राजा वीरध्वज राज्य करते थे। उनकी यशस्वी पताका सर्वत्र फहरा रही थी। राजा महान् गुणवान एव धैर्यवान थे। उनकी सुशीमा नाम की रानी अत्यन्त गुणवान एव शीलवान थी। उनके वीरकुमार नाम का एक पुत्र था। अभाग्य से वह कुसगति मे पड गया। जिस तरह नीम की सगति से मधुर जल भी कडवा हो जाता है, वैसे ही कुसगति के कारण वह कुमार भी सप्त-व्यसनी हो गया। राजा ने उसे सुधारने का बहुत प्रयत्न किया पर वक्रपरिणामी कुमार सन्मार्ग पर न आया। **जिसको**

होनहार खोटी होती है, उसे समझाने पर भी समझ में नहीं आता।

उसी समय ग्वलदेश के अन्तर्गत कामलिप्त नाम का एक सुन्दर नगर था। उस नगर मे जिनधर्म के रहस्य के ज्ञाता, इन्द्र के समान प्रभाववान जिनभक्त नाम के सेठ रहते थे। सेठ का धर्म-धर्मात्माओ के प्रति बहुत वात्सल्य था। उन्होंने अपने घर पर ही अत्यन्त कीमती रत्नो से मडित एक चैत्यालय बनवाया। जिसमे वैडूर्य नाम का एक अत्यन्त सुन्दर कीमती अलभ्य मणि भगवान के छत्र मे लगा हुआ था। मन्दिर के चारो ओर कडा पहरा रहता था, कोई चोर चोरी करके सरलता से न भाग सकता था। मन्दिर की सर्वत्र बहुत प्रसिद्धि थी।

(२)

एक दिन राजकुमार ने अपने साथियो से कहा—"मित्रो ! आज तक हमने अत्यत कीमती अनेका वस्तुए अनेको जगह मे चुराई हैं, परन्तु ग्वलदेश मे कामलिप्त नाम का नगर है उसमे जिनेन्द्र भक्त नाम के सेठ रहते है। इनका एक सुन्दर जिनालय है, जिसमे भगवान के सिर पर एक वैडूर्य मणि से मण्डित अत्यन्त कीमती छत्र लगा है, इसके समान दिव्य वस्तु मैंने आज तक नही देखी। उसे कौन चुराने की हिम्मत रखता है ! यह मन्दिर भी सुमेरु के समान वज्र का सा है। बारह दरवाजो को लाघकर परकोटे के अन्दर जाना पडता है। प्राण जाने का भी भय है। जो उस अलभ्य वस्तु को लाकर मुझे देगा, मैं अपना आधा राज्य उसे दे दूंगा।

राजा की बात सुनकर सूर्य नाम के चोर के मुंह मे पानी भर आया। वह कुमार को निश्चित करते हुए बोला—"चाहे मेरे प्राण भले ही चले जाय परन्तु मैं उस छत्र को चुराकर जरूर लाऊंगा और आपकी

मनोवांछा को अवश्य पूरी करूंगा। आज तक मैंने बड़े-बड़े अद्भुत कार्य किये हैं, मैं तो इन्द्र का मुकुट भी चुराकर ला सकता हूं।"

राज्य के लोभ मे वह उत्तम कार्य सिद्ध करने की युक्ति सोचने लगा कि सेठ तो दयालु प्रकृति के है यदि पकडा गया तो वे मुझे प्राणदड तो नही देंगे, परन्तु उनके व्यक्तियो से जरूर सावधान रहना होगा।

इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये मुझे श्रावक बनना पडेगा और मुनिराज के पास जाकर कपट वेश धारण कर कुछ आगम पढ कर उपदेश सीखना होगा और श्रावक की क्रियाओ का अभ्यास करना होगा। पश्चात उग्र तपस्या से ख्याति प्राप्त कर लेने पर सेठ जिनेन्द्र भक्त स्वय मेरे पास आयेगा और मेरे प्रभाव से आकर्षित होकर स्वय मुझे अपने घर ले जायेगा। फिर मै अपना कार्य सरलता से सिद्ध कर सकूंगा और मणि राजकुमार को देकर आधा राज्य प्राप्त कर सम्पूर्ण जीवन सुख से यापन करूंगा।

"लोभ को पाप का बाप कहा गया है, क्योकि इसके वश होकर जीव क्या-क्या पाप नही करता! वह इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये अपने प्राणो को भी गवां देता है। वस्तु का प्राप्त होना, न होना वह तो पुण्य-पाप के आधीन है, हमारी इच्छा के आधीन नहीं। लोभी को तीन लोक की सम्पदा भी थोड़ी है। 'लोभ' अनेक प्रकार के पाप और कषायो का जन्मदाता है।

(३)

सूर्य चोर एक मुनिराज के पास साधु-मार्ग के अभ्यास के लिये जा पहुंचा। जब मुनिराज ने उसके आगमन का कारण पूछा—तो अपना प्रभाव जमाने के लिये इस प्रकार बात बनाता हुआ बोला—

"प्रभो ! मैं तो अनाथ परदेशी हूं। अनादि काल से इस जीव का कोई साथी नही रहा, अकेला ही उत्पन्न हुआ और अकेला मरा।

मरता अकेला जीव, एवं जन्म एकाकी करे।
पाता अकेला ही मरण, अरु मुक्ति एकाकी करे॥

हे स्वामिन् ! मैं आत्म कल्याण के लिये आपके चरणों में आया हूं। आभूषण, वस्त्र, कुटुम्ब, माता-पिता, स्त्री, धन वैभव आदि के मोह मे जीव ने अनादि काल से परिभ्रमण कर कष्ट पाया है। सासारिक सुख तो क्षणभगुर बादलो की तरह विनाशीक हैं। अतः इस ससार स विरक्त होकर मेरा मन आपके चरणो मे रहकर आत्म साधना करना चाहता है।"

इस प्रकार शिष्य बनकर मुनिराज के पास रहने लगा। धीरे-धीरे श्रावक चर्या का अच्छा अभ्यास कर लिया तथा कुछ उपदेश देना भी सीख लिया।

"अहो, धिक्कार है ! जो मार्ग आत्महित के सर्वोत्कृष्ट कार्य को सिद्ध करने वाला है, महज ही स्वर्ग-मोक्ष जैसी महान विभूतिया प्रदान करने वाला है। उस धर्म-मार्ग का प्रयोग यह पापी जीव अपने पाप के प्रयोजन की सिद्धि मे करता है। यह तो अमृत से पग धोने जैसा निकृष्ट कार्य है।"

वह सूर्य चोर अपने सारे क्रियाकाण्ड और आडम्बर को ब्रह्मचारी जैसा बनाकर उग्र तपश्चरण करने लगा। धीरे-धीरे उसकी ख्याति सर्वत्र फैल गई। वह यत्र तत्र परिभ्रमण करता हुआ अन्त में अपने गन्तव्य स्थान कामलिप्त नगर मे जा पहुँचा। उसके त्याग और तपश्चर्या की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो गई। लोग उसका बहुत सम्मान और आदर करने लगे। जिनेन्द्र भक्त सेठ को भी जब उसके आगमन का समाचार मिला तो वे भी अत्यन्त प्रसन्न चित्त से वात्सल्य पूर्वक

उसके दर्शनों के लिये चल दिये। सेठ भी उसके त्याग और तपश्चर्या से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपने को धन्यभाग्य और कृतार्थ माना, साथ ही उनसे अपने चैत्यालय के दर्शन करने की विनय की। पहले उन्होंने कुछ आनाकानी की और फिर सेठ के साथ चल दिये।

ब्रह्मचारीजी के आ जाने से सेठजी बहुत प्रसन्न थे और ब्रह्मचारी भी जिनालय को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। पश्चात् सेठ पर अपना प्रभाव जमाने के लिये छल भरे वचनों में बोले—"अरे ! इस रत्नमय जिनालय मे मेरा रहना ठीक नही है, मै तो किसी सादा स्थान पर रहना चाहता हू। यहा रहने से तो मेरी आत्म-साधना मे बाधा होगी।

वह अब और अधिक उपवासादि क्रियाए करने लगा और मौन रहकर शरीर का सुखाकर काटा कर लिया। स्त्रियो को देखकर तो आखे बन्द कर लेता तथा स्पर्श हो जाने पर उपवास करता। यह सब देखकर सेठजी को उन पर बहुत श्रद्धा और विश्वास हो गया।

जिस तरह बिल्ली निरन्तर चूहे पकडने की घात मे रहती है, उसी तरह वह छद्मवेशी श्रावक भी निरन्तर अपना कार्य सिद्ध करने की कोशिश मे था। वह बिलाव के समान चतुर, बगुला के समान मायाचारी और व्याघ्र के समान अतरग मे क्रूर था।

"अरे ! इस वेष को यदि आत्मा आत्महित के लक्ष्य मे धारण करे तो पुण्य भी ऐसा उत्कृष्ट जाति का बधे कि चक्रवर्ती का वैभव और इन्द्र की सम्पदा उसके चरणो मे लोटे। पाप से तो मिला हुआ वैभव भी क्षण मे विलीन हो जाता है। ज्ञानियो के छाया की तरह जगत का वैभव उनके पीछे-पीछे भागता है।"

(४)

कुछ समयोपरान्त जिनेन्द्र भक्त ने व्यापार के लिये कहीं बाहर जाने का प्रोग्राम बनाया। अत: ब्रह्मचारीजी के पास आकर बोले--"हे महाराज ! मैं कुछ समय के लिये बाहर जाना चाहता हूं। आप कृपया घर पर ही रहे। आप अत्यन्त पुण्यवत जीव है। आपके कारण अनेक श्रावक लोग यहा प्रतिदिन आते रहेगे। मेरे आने तक आप यही विश्राम करे।

ब्रह्मचारी मन मे प्रसन्न होकर सोचने लगा—"मेरा पुण्य कितना प्रबल है, मेरा कार्य अब सिद्ध होना ही चाहता है। यह सेठ स्वय ही घर छोडकर जा रहा है।" अपने अन्तरग भावो को दबाकर बोला—"अरे सेठ ! जब मैने अपने घर के स्त्री, पुत्र कुटुम्बियो को ही छोड दिया है, तो फिर किसके घर की रखवाली करूगा ? इससे मेरे आत्मकल्याण मे बाधा आयेगी। **कल्याणेच्छु को तो एकांत-शांत निर्जन स्थानों में ही रहना चाहिये। घर नगर ग्राम तो सब पाप के निमित्त हैं। विषय-कषायी जीवों का समागम ही जीव को अपने मार्ग से पतित कर देता है। इससे संयम की विराधना होती है। आत्मार्थी को सदा वैराग्य के स्थान पर रहना चाहिये। ज्ञान और वैराग्य ही आत्मार्थी की सच्ची संपत्ति है जिस-तिस प्रकार से उसे इसकी रक्षा एवं संवर्द्धन करना चाहिये। साधु का स्थान घर रहना ठीक नहीं। साधु का शरीर तो जहां रहेगा वहां चन्दन के समान खुशबू ही देगा।"**

"महाराज ! विरक्त व्यक्तियो के लिये घर और जगल सब समान है। विषयासक्त जीव वन मे रहकर भी कल्याण नही कर पाता है एव जल से भिन्न कमलवत् रहने वाले ज्ञानी तो घर मे भी आत्म साधना कर लेते है। अत. महाराज ! आप यही पधारे।"

इस प्रकार बहुत अनुनय-विनय करके सेठ व्यापार के लिये चल दिया। थोडी दूर चलकर रात्रि विश्राम के लिये डेरा जमा लिया।

"**मायाचारी के मन की गति को कौन जान सकता है** ? जैसे कोटि धन का स्वामी शरीर मे काटा लग जाने से व्याकुल रहता है, वैसे ही मायाचारी व्यक्ति तप से समृद्ध होने पर भी निरन्तर व्याकुल एव दु खी रहता है।

चोर को क्या चाहिये ? अधेरी रात और सुनसान घर। आज उसे स्वयमेव अपना कार्य सिद्ध करने का अवसर मिल गया। अनेक कल्पनाओं ने एक साथ उसके मन को घेर लिया। आधा राज्य उसके सामने घूमने लगा परन्तु "**चोरन के पुर न बसें**।"

जैसे-जैसे रात्रि बढ रही थी उसका मन उछाला ले रहा था। आज उसे अपना मनोरथ सिद्ध होता जानकर नीद भी नही आ रही थी। वह रात भर जागता रहा और नाना प्रकार की कल्पनाए करता रहा क्योकि रत्न अब उसकी मुट्ठी मे ही था। मध्य रात्रि के समय उसने क्षत्र मे लगे वैदूर्य-मणि को आसानी से निकाल लिया। मणि को देख कर कहने लगा—"हे रत्न शिरोमणि ! तुम्हारे लिये मैंने कितने कष्ट सहन किये है, अपने शरीर को भी सुखा दिया है। आज आपके कारण मेरा भाग्योदय होने जा रहा है। इस प्रकार रत्न की स्तुति करते हुए उसने रत्न को गले से लगाया और वैदूर्य मणि को हाथ मे लेकर समस्त दीपको को बुझाकर, पहरेदारो को सोता जानकर अर्द्ध रात्रि को वहा से भाग निकला।

रत्न की जगमगाहट देखकर लोगों ने उसे चोर समझ लिया और उसके पीछे भागने लगे, सारे नगर मे कोलाहल मच गया। पहरेदार जागे तो सब जगह अधेरा था। वे जिनालय मे गये तो न तो मणि

दिखा और न ब्रह्मचारी । वे तत्काल समझ गये कि ब्रह्मचारी जी की ही यह सब करामात है । वे सब घबरा गये और तत्काल चारों ओर भागे ।



बहुत छिपाने पर भी उस अंधेरी रात्रि मे उस मणि का प्रकाश न छिप सका । वह श्रावक वेष धारी सूर्य चोर बेतहाशा भाग रहा था । चारो ओर से लोग उनके पीछे भाग रहे थे । वह सोचने लगा कि अब तो मौत सर पर ही आ गई है यदि पकडा गया तो बहुत दुर्गति होगी । यदि जिनेन्द्र भक्त की शरण मे पहुच जाऊं तो कम से कम मेरे प्राण तो बच जायेंगे । जिनेन्द्र भक्त का डेरा यहां से पास में है । ऐसा विचार कर वह दौड़ता-दौड़ता जिनेन्द्र भक्त के तम्बू में जाकर घुस गया ।

(५)

"भाग्य प्रतिकूल हो जाता है तो हजार छल से छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमा के ग्रहण की तरह क्षण मात्र में प्रगट हो जाता है। अच्छी तरह सैंकड़ों छल-कपट करने पर भी पुण्यहीन के हाथ पुण्यशाली का धन नहीं आता।"

जिनेन्द्र भक्त ब्रह्मचारी के इस रूप को देखकर आश्चर्यचकित रह गये एवं उसे देखते ही उसके कृत्य को समझ गये। सेठजी को ब्रह्मचारी के प्रति अनन्त प्रेम और श्रद्धा थी पर उन्होंने उसका ठग और पाखण्डी रूप देखा तो एकदम अत्यन्त घृणा हो गई।

वे सोचने लगे—"जैसे सर्प देश-विदेश चाहे जहा घूम आवे, उसे खाने के लिये चाहे जो कुछ दिया जाये पर वह अपना विष नही छोडता। इस प्रकार धूर्त, ठग एव पापी पुरुष भी अपनी धूर्तता नही छोड सकते।"

सेठ के तम्बू में चोर के घुसते ही पीछे से लाठी, तलवार बर्छे लिये लोग दौडते हुए आ गये और बोले—"पापी ने अपनी कीर्ति फैलाकर अपने प्रभाव से दूसरो को झुकाया पर आज तो यह आस्तीन का साप निकला। इसने मन्दिर का मणि चुराने के लिये ही यह धूर्त पाखण्डी का वेष रचा था। आज इसे अपने किये की सजा मिलना ही चाहिये।"

जिनेन्द्र भक्त यह दृश्य देखकर अचम्भे मे पड गये और विचारने लगे कि इस समय तो धर्म की रक्षा करना चाहिये। **"अन्य मिथ्यादृष्टि लोग इस बात को सुनेंगे तो धर्म की निन्दा करेंगे तथा एक अज्ञानी का पाप देखकर समस्त धर्मात्माओं को दूषण लगायेंगे। कहेंगे**

इस जिनधर्म में तो कितने ज्ञानी, तपस्वी, त्यागी, व्रती, हैं, वे सब पाखण्डी हैं। एक का दोष देख समस्त धर्म और धर्मात्मा दूषित हो जायेंगे। जैसे माता अपने बालक के दोष को देखकर ढांकती है, उसी तरह ज्ञानी को धर्म एवं धर्मात्मा पर लगने वाले दोषों को धर्म की निन्दा के भय से ढांकना ही श्रेष्ठ है।"

जो सिद्ध भक्ति सहित हैं, गोपन करें सब धर्म का।
चिन्मूर्ति वो उपगूहन कर, सम्यक्तदृष्टि जानना॥

"सम्यग्दृष्टि का तो स्वभाव ही ऐसा होता है कि अपनी उच्चता एवं पर की निन्दा नहीं करता। वह तो विचारता है कि हमने भी कर्म के वश क्या-क्या अनर्थ नहीं किये हैं। इसलिये किसी जीव के कर्म के उदय से होने वाले दोषों को देखकर करुणा ही करना, कषाय नहीं करना। ये कषाएं जीव को अपना स्वरूप भुलाकर नाना प्रकार के नाच नचाती हैं, इसलिये अज्ञानी कृत दोष देखकर हम क्यों संक्लेश करें। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से जो होनहार है, उसे टालने में कोई समर्थ नहीं है।"

इस प्रकार ऊहापोह करके सेठ ने धर्म की रक्षार्थ शीघ्र ही ब्रह्मचारी जी को एक पाटे पर बिठाकर पैर दबाना प्रारम्भ कर दिया। लोगो ने जब यह कृत्य देखा तो आश्चर्य मे पड गये और सेठ जी से कहने लगे —"हे श्रेष्ठिन्! आप यह क्या कर रहे है? इस पापी पाखडी का कुकृत्य आपको मालूम नही? यह मन्दिर के छत्र की अमूल्य वैदूर्यमणि चुरा कर आया है। यह अविश्वासी धूर्त, ठग, मायाचारी और दुष्ट है।"

जिनेन्द्र भक्त गम्भीर स्वर मे बोले —"क्या बक रहे हो? इसने किसकी वस्तु चुराई? धर्मात्मा की निन्दा करते तुमको

शर्म नही आती । यह वैदूर्यमणि तो मैंने ही इनके द्वारा यहाँ मगवाई थी । यदि यह चोर होता तो मणि लेकर उल्टा मेरे पास क्यो आता ? इनके सम्बन्ध मे असत्कल्पना करना व्यर्थ है ।"

"स्वामिन् ! हमसे अपराध हो गया जो इन्हे चोर समझा, हमे क्षमा करना । यदि यह इस बात को पहले ही कह देते तो हम इनके साथ ऐसा बर्ताव क्यो करते ? पर अर्द्ध रात्रि के समय, जिनालय मे अन्धेरा करके, इस तरह भागते हुए देखकर हम लोगों को सन्देह होना स्वाभाविक था । ये दिन मे भी लाकर यह मणि आपको दे सकते थे ।" इस प्रकार अनुचर वृन्दो ने शकात्मक दृष्टि से अपराध स्वीकार किया ।

जिनेन्द्रभक्त लोगो को निश्चय दिलाते हुए बोले —"आप लोगो को व्यर्थ सन्देह नही करना चाहिये । हमे रात्रि मे विचार आया कि वैदूयमणि बहुत मूल्यवान है, उसे यहा छोड जाना ठीक नही, साथ ले जाने पर ही इसकी यथार्थ रक्षा हो सकेगी तथा इसकी समानता का कोई दूसरा रत्न मिल जाये तो लेते आयेगे । रात्रि मे इसकी चिन्ता से नीद नही आ रही थी । अत हमने ही इनके पास आदमी भेजकर यह रात्रि को ही मगवा लिया ।"

सेठजी की बात सुनकर लोगो को विश्वास हो गया और वे अपने कार्य पर पश्चाताप करने लगे-हमने व्यर्थ ही एक तपस्वी को परेशान किया । पश्चात् सब लोग धीरे-धीरे अपने-अपने घर लौट गये । पहरेदार भी वापस चले गये ।

(६)

जैसे घूंघट चेहरे के दाग को ढक देता है वैसे ही ज्ञानी साधर्मी के द्वारा किये किसी दोष को धर्म निन्दा के भय से ढक देते हैं। उपगूहन वह धर्म का अवगुण्ठन (घूंघट) है।

पश्चात् वह सूर्य चोर जिनेन्द्रभक्त के चरणो मे लोट गया और अनेक प्रकार से पश्चाताप करता हुआ बारबार क्षमायाचना करने लगा। —"**वास्तव मे खोटे कार्य का फल खोटा ही होता है।** जब मै ब्रह्मचारी के वेश मे था तब त्याग और तपस्या के कारण लोग मेरी पूजा करने लगे और खोटा कार्य किया तो एक क्षण मे ही मृत्यु के मुख मे जा पहुचा। धिक्कार है, इस दुष्कर्म को! और धन्य है वह जिनधर्म कि जिसके धारण करने से यह पापी भी पूज्य बन गया। साक्षात् पाप-पुण्य का फल आज मैने अपनी आंखो से देख लिया। यदि सेठजी कृपा न करते तो मेरा मरण निश्चित था। धन्य है इनके दयालु हृदय को जो मेरे प्राणो की रक्षा की। मझे जीवन दान दिया।

पश्चात् एकात पाकर सेठजी ने भी उसे बहुत डांटा —"इस नगर के लोगो ने तुम्हारी देव-तुल्य पूजा की। तुम्हारे समान विश्वासघाती, पापी, कृतघ्न चोर अन्य कौन होगा? तुम्हे इस धर्म विराधना के फल मे नरक मे भी स्थान नही मिलेगा। अनन्त-काल तक निगोदादि के अनन्त दु खो को भोगते हुए परिभ्रमण करोगे। यदि तुम्हे चोरी ही करनी थी तो इस पवित्र वेश को क्यों लजाते हो? तुम्हारे कारण आज सारा धर्म एव धर्मात्मा कलकित हो जाते, लोग उन्हें भी शका की दृष्टि से देखते। संसार की

समस्त विभूतियां पुण्यवान के पास जुटती है, पापियो के पास नहीं। पुण्योदय के बिना एक परमाणु प्राप्त होना भी दुर्लभ है। चोरी करने वाले कभी श्रीमन्त नही हुए, कुत्ते की तरह घर-घर रोटियाँ चुराने पर भी अन्त में भूखे ही मरना पडता है।"

"अरे! पवित्र हृदय से कही ऐसी साधना करते तो स्वर्ग-मोक्ष की लक्ष्मी तुम्हारे चरणों मे लोटती। जैसी प्रीति हराम से है वैसी यदि धर्म से होती तो ससार के समस्त दुखो का अभाव हो जाता।

ज्यों मन विषयन में रमे, त्यों जो आतमलीन।
शीघ्र लहे निर्वाण पद धरे न देह नवीन॥

भो आत्मन्! जो अपने आत्म ज्ञान के भ्रम से दुःख उत्पन्न हुआ है, वह आत्मज्ञान के सद्भाव से ही दूर होगा। देह के प्रति अपनापन ही वास्तव में देह धारण करने की परिपाटी है। अरे! यह मनुष्य जन्मादिक सामग्री बारम्बार नहीं मिलेगी!"

"एक भव के थोड़े सुख के लिये अनंतभवों के अनंत दुखों को बढ़ाने का कार्य ज्ञानी पुरुष नहीं करते। दुरन्त तथा सारवर्जित इस अनादि संसार में गुण सहित मनुष्यत्व जीव को दुर्लभ है।

इस मनुष्य पर्याय के एक पल का हीन उपयोग भी एक अमूल्य कौस्तुभ-मणि खोने से भी विशेष हानिकारक है, तो सम्पूर्ण आयुष्य-स्थिति का हीन उपयोग तो कितनी हानि का कारण होगा।

पल एक अमूल्य वस्तु है। चक्रवर्ती भी यदि एक पल पाने के लिये अपनी सारी ऋद्धि दे दे, तो भी वह उसे नहीं पा सकता। एक

एक पल व्यर्थ खोना एक भव हार जाने के समान है। अनन्तभवों के अभाव का कार्य इस एक भव में ही करना है।"

इसलिये हे आत्मन् ! अब यह पाप कार्य छोडकर पुन: प्राय-श्चित पूर्वक धर्म धारण कर। इसी से तेरा अविनाशी कल्याण होगा।

सेठ की बातो को सुनकर वास्तव मे ही उस सूर्य चोर का मन ससार से विरक्त हो गया। दूध-पानी की तरह ससार की पुण्य पाप दशा का उसे ख्याल हो आया। पाप से उसका हृदय कापने लगा। वह बारबार सेठ का उपकार मानने लगा। "धन्य है आपको ! जो आज आपने मेरे प्राणो की रक्षा की एव मुझे वास्त-विक सन्मार्ग पर लगाया। अरे ! धर्म निन्दा के भय से आप ने मेरे इतने बडे दोष को ढक दिया, धन्य आपके उपगूहन अग को ! आप वास्तव मे देव पुरुष है, सच्चे धर्मरत्न है। धिक्कार है मुझ पापी को, जो मेरे कारण आज यह पवित्र जिनधर्म कलकित होते-होते रह गया। अरे रे ! इन सभी पुत्रादि के लिये मैंने क्या पाप नही किये ? परन्तु फल तो मुझे अकेले ही भोगना पड़ेगा। सेठजी के कारण मैं इन महान दुखो और महान पापो से बच गया। आज मेरे ज्ञान नेत्र खुल गये। अब मै पुन: सच्चे श्रावक धर्म को स्वीकार करता हूँ एव अपने पूर्व कृत दोषो का प्रायश्चित करता हूँ।"

तदनन्तर वह सूर्य चोर ससार से विरक्त और आत्माराधना पूर्वक श्रावक धर्म का पालन करने लगा। उसे सर्वत्र आत्मा ही आत्मा नजर आने लगा, उसका सम्पूर्ण जीवन आत्मा-मय हो गया।

"मम ज्ञान में है आत्मा, दर्शन चरित में आत्मा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आत्मा॥"

इस प्रकार आत्म भावना भाता हुआ वह ससार से पूर्णता विरक्त हो गया और नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण करके उग्र-उग्रतर तपश्चरण करने लगा। अन्त मे समाधि मरण पूर्वक देह छोड़कर स्वर्ग लोक की महर्द्धिक विभूति को प्राप्त हो गया।

"तहतें चय नरजन्म पाय मुनि ह्वै शिव आवें।"

समकित बिना

धिक ! धिक ! जीवन समकित बिना ॥ टेक ॥
दान शील तप व्रत, श्रुत पूजा, आतम हेत न एक गिना ॥
धिक ! धिक ! जीवन ०

ज्यो बिनु कत कामिनी शोभा, अम्बुज बिनु सरवर ज्यो सूना।
जैसे बिना एकडे बिन्दी, त्यो समकित बिन सरब गुना ॥
धिक ! धिक ! जीवन ०

जैसे भूप बिना सब सेना, नीव बिना मन्दिर चुनना।
जैसे चन्द बिहूनी रजनी, आदि जानो निपुना ॥
धिक ! धिक ! जीवन ०

देव जिनेन्द्र, साधु, गुरु, करुणा, धर्म, राग, व्योहार भना।
निहचे देव धरम गुरु आतम, 'द्यानत' गहि मन वचन तना।
धिक ! धिक ! जीवन ०

कथा-सार

* जब भाग्य प्रतिकूल हो जाता है तब सेकडों छल कपट करने पर भी भाग्य हीनो के हाथ भाग्यशाली का धन नही आता ।
* जैसे माता अपने बालक का दोष दिखने पर भी ढक देती है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष धर्म एव धर्मात्माओं पर लगने वाले दोषो को धर्म निन्दा के भय से ढक देते है । नही तो एक अज्ञानी की चूक देखकर लोग समस्त धर्मात्माओ को दूषण लगायेंगे । ऐसा अपने गुण एव दूसरे के दोषो को छिपाने का उपगूहन गुण सम्यग्दृष्टियो के होता है ।
* देह के प्रति ममत्व परिणाम यह देह धारण करने की परिपाटी है ।
* एक भव के थोडे सुख के लिये अनन्त भवो के अनन्त दुखो को बढाने का कार्य ज्ञानी पुरुष नही करते ।
* पल एक अमूल्य वस्तु है, चक्रवर्ती भी यदि एक पल पाने के लिये अपनी सारी ऋद्धि दे दे तो भी वह उसे प्राप्त नही कर सकता । एक पल व्यर्थ खोना एक भव हार जाने के समान है ।
* यह मनुष्यादिक सामग्री बारबार नही मिलती, इस मनुष्य पर्याय के एक पल का भी दुरुपयोग, अमूल्य मणि को खोने जैसा हानिकारक है ।
* जैसी प्रीति इस जीव की विषय कषाय के प्रति है, वैसी यदि आत्मा के प्रति होती तो यह जीव अल्प-काल मे निर्वाण पद प्राप्त कर लेता ।

६. फिसलते चरण

सद्दर्शन से सदाचरण से, विचलित होते हैं जो जन।
धर्म प्रेम वश उन्हें करे फिर, सुस्थिर देकर तन-मन-धन ।।
"स्थितिकरण" नामक यह छट्टा, अंग धर्म-द्योतक प्रियवर।
"वारिषेण" श्रेणिक का बेटा, ख्यात हुआ चलकर इस पर ।।

ससार के पवित्र और श्रेष्ठ वैभव सम्पन्न मगध देश मे राजगृह नाम का प्रसिद्ध नगर है। वहा के राजा श्रेणिक उदार, सम्यग्दृष्टि, धर्म प्रेमी और कुशल राजनीतिज्ञ थे। उनकी महारानी का नाम चेलना था, वह भी सम्यक्त्व रत्न से भूषित थी। उनके वारिषेण नाम का एक सुन्दर गुणवान होनहार पुत्र था। उसकी इन्द्राणी तुल्य सर्वांग सुन्दर बत्तीस रानिया थी। घर मे सब प्रकार के भोगो की प्रचुरता थी। सम्पूर्ण वैभव सम्पन्न होने पर भी वारिषेण का चित्त सदा ससार से उदासीन रहता था।

"दास भगवंत के उदास रहे जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।"

वह निरन्तर मुनिदशा की भावना भाते रहते थे। ससार के गृहस्थाश्रम का बधन उन्हे महान कारावास जैसा प्रतिभासित होता था। इन्द्रियो के भोग नीरस एव काले नाग की तरह भयानक प्रतिभासित होते थे। वे सोचते थे कि गृहस्थ दशा मे रहकर कभी ससार रूपी विषवृक्ष को सुखाया नही जा सकता।

वारिषेण एक दिन गहराई से गृहस्थदशा की असारता का विचार कर रहे थे कि—"यह 'गृहस्थाश्रम' 'यह मेरा है' ऐसे मिथ्या-भाव का अधिष्ठान है। निरन्तर क्रोध, मान, माया, लोभ की खान है। उसमे रहकर यह जीव असारता मे सारता, अनित्य में नित्यता, अशरण मे शरणता, अशुचि मे शुचिता, दु ख मे सुख, अहित मे हित, अनाश्रय मे आश्रय, शत्रुता मे मित्रता मानकर सब और दौड़ता है।

जिससे निकलना कठिन है, ऐसे कालरूपी लोहे के पिजरे में गये सिह की तरह, जाल मे फसे हिरणो की तरह, अन्यायरूपी कीचड़ मे फसे बूढे हाथी की तरह, पाश से बद्ध पक्षी की तरह, जेल में बद चोर की तरह, व्याघ्रो के मध्य बैठे हिरण की तरह, जिसके पास सकट निकट आया है ऐसे जाल मे फसे मगरमच्छ की तरह, इस गृहस्थ आश्रम मे रहने वाला जीव कालरूपी अत्यत गाढ़ अन्धकार से आच्छादित हो जाता है, मारा जाता है।

वहा रागरूपी महानाग उसे सताते है। चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है। शोकरूपी भडिये सदा पीछे लगे रहते है। दुराशा-रूपी लताए उसे बाध लेती है। प्रिय का वियोगरूपी वज्रपात उसके टुकडे कर डालता है। मायारूपी बुढिया सदा चिपकाये रहती है। तिरस्कार रूपी कुठार उसे काटते रहते है। अपयशरूपी मल से वह सदा लिप्त होता रहता है। महा मोहरूपी जगली हाथी के द्वारा वह मारा जाता है। पापरूपी घातको के द्वारा ज्ञानशून्य कर दिया जाता है। भवरूपी लोहे के शूलो द्वारा सदा कोचा जाता है। भयरूपी कोओ द्वारा खाया जाता है। परिग्रहरूपी मगरमच्छो के द्वारा पकडा जाता है।"

वह अपने को ससार रूपी जेल से नही छुडा पाता । मृत्युरूपी वृक्ष को नही जला पाता । मोहरूपी मजबूत सांकल को नही तोड पाता । विचित्र योनियों के परिभ्रमण को नही रोक पाता । और दीक्षा धारण करने से इन सब प्रकार के दोषो से आत्मा सहज ही मुक्त हो सकता है । अत मुझे वही निर्ग्रन्थ मार्ग स्वीकार करना चाहिये ।

इस प्रकार ससार से विरक्त होकर वह माता-पिता एव स्त्रियो से आज्ञा लेकर वन की ओर चल दिये और आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली । पश्चात् निरतिचार चारित्र का पालन करते हुए उग्र तपश्चरण करने लगे ।

(२)

वारिषेण एक बार अनेक देश-विदेशो मे विहार करते हुए पलाशकूट नामक नगर मे जा पहुचे । वहा राजा श्रेणिक का मत्री अग्निभूत रहता था । उसके पुत्र का नाम पुष्पडाल था । भाग्य से उसकाविवाह एक कुरूप एव काणाक्षी स्त्री के साथ हो गया । वह वारिषेण मुनिराज को भिक्षार्थ आते हुए देखकर प्रसन्नतापूर्वक उनके सन्मुख आया और भक्तिपूर्वक आह्वानत कर उसने नवधा भक्ति से हर्षपूर्वक मुनिराज को प्रासुक आहार कराया ।

आहार करके जब वारिषेण वापस जाने लगे तब पुष्पडाल कुछ बाल्यावस्था की मित्रता के सबध से, तथा कुछ राजपुत्र के लिहाज से उन्हे थोडी दूर पहुचा आने के विचार से उनके पीछे चल दिया ।

दूर तक जाने की इच्छा न होने पर भी वह मुनिराज के साथ-साथ चल दिया। वह सोचता था कि मुनिराज मुझे स्वय लौटने की आज्ञा देगे तब लौट जाऊगा। जब मुनिराज ने कुछ न कहा तो उसकी चिता बढ गई। उसने दूर आने की बात याद दिलाने के लिये कहा—"कुमार ! यह वही सरोवर है जहा हम आप खेला करते थे। यह वही वृक्ष है जहा हम विश्राम किया करते थे।

इस प्रकार अपने पूर्व परिचित चिन्हो को बार-बार दिखलाकर उसने मुनिराज का ध्यान आकर्षित करना चाहा पर मुनिराज ने उसके हृदय की बात जानकर भी उसे लौटने को न कहा। क्योकि उनका मार्ग तो आगे बढने का है पीछे लौटने का नही। जब पुष्पडाल से अधिक न रहा गया तो वह मुनिराज के आगे आकर खडा हो गया और उनके चरणो मे लोट गया। पर मुनिराज वारिषेण ने उसे घर जाने की आज्ञा न देकर वैराग्यमय उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया।

"भो धर्म के इच्छुक ! धर्मानुरागी !! यह मनुष्यभव इसमें उत्तम कुल, इन्द्रियों की परिपूर्णता, धर्म लाभ ये बहुत दुर्लभ मिला है। यह सब छूटने के बाद अनन्तकाल में भी प्राप्त करना कठिन है। और यह मनुष्यदेह तो रोगो का घर है। ससार के समस्त क्षणभगुर सयोग वियोग सहित है। इस देह का भी अल्पकाल में वियोग निश्चित होगा। अब सचेत हो ! यह कर्म के जीतने का अवसर है। अपने अजर-अमर ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को ग्रहण करो। यही एक ज्ञायक निर्विकार टकोत्कीर्ण तुम्हारा स्वरूप है। एक क्षणमात्र भी उसके ज्ञान एव ध्यान के बिना व्यतीत मत करो। ऐसा अवसर फिर मिलना दुर्लभ है।

अहो ! चक्रवर्ती एव तीर्थंकर भी एक क्षण मे ससार से भयभीत होकर, सम्पूर्ण वैभव को कागबीट सम जानकर छोडकर चल दिये फिर मुडकर भी पीछे न देखा। ससार मे भोगो से सुख की इच्छा वह तो बालू मे से तेल एव मृगमरीचिका मे से जल प्राप्त करने जैसी निष्फल भावना है।''

''हे आत्मन् ! जिस नारी के मोह से तू ससार मे अटक रहा है, उसका रोम-रोम विषमय है। नारी की भृकुटी लोहे की साकल के समान, नितम्ब यमराज के दूत समान, नाक शिकारी कुत्ते के समान, मुख नरक के बिल समान, दतपक्ति यमराज की दाढो के समान आँखे सिहनी के समान, भुजाए सर्पिनी के समान भयकर है। इसका अनुराग जीव को नरक निगोद की घोर वेदना का कारण है।

राज वैभव बादलों के समान, युवावस्था इन्द्रधनुष के समान एवं जीवन सड़े वृक्ष के समान क्षणभंगुर है। अतएव मनुष्य पर्याय में शीघ्र आत्महित कर लेने जैसा है।''

इस प्रकार उपदेश सुनकर पुष्पडाल के मन मे क्षणिक वैराग्य जागृत हुआ और उसने भी वहां दीक्षा धारण करली तथा स्वाध्याय एव सयम मे तत्पर रहने लगा। धीरे-धीरे उसे अपनी काणाक्षी स्त्री की याद आने लगी, ध्यान मे भी उसे स्त्री का मुख दिखने लगा एव स्वाध्याय और सयम से उसका चित्त शिथिल हो गया।

यद्यपि वारिषेण को यह बात ज्ञात हो गई तथापि जैसे माता अपने पुत्र का अहित नही कर सकती, वैसे ही वारिषेण भी उस भव्यात्मा का कल्याण ही करना चाहते थे। उन्होने सोचा, बारबार इसे आगम का उपदेश देकर मुनिधर्म मे इसका स्थितिकरण करेंगे।

भोगों की तरफ भागना तो यह जीव की अनादिकालीन प्रवृत्ति है। अतः उस पर अंकुश लगाना कठिन है।

"काम-भोग-बंधन की कथा ही इस जीव ने अनंतकाल में अनन्त-बार सुनी है, परिचय किया है, और अनुभव किया है इसलिये वह सुलभ है। परन्तु स्व से एकत्व और पर से विभक्त इस शुद्धात्मा की कथा इस जीव ने न कभी सुनी है, न परिचय किया है और न अनुभव किया है, इसलिये वह दुर्लभ है।"

वारिषेण ने करुणापूर्वक पुष्पडाल के हृदय की शल्य निकालना चाही और इसके लिये पुन: पुन: उपदेशामृत का सिंचन करना प्रारंभ कर दिया।

"हे मुनि ! तू इस स्त्री के मृतक कलेवर में किस कारण प्रीति करता है ? स्त्री का कलेवर कल्याण के भस्म करने को अग्नि ज्वाला का समूह है। मोक्षमार्ग के लिये अर्गला है। नरकों का साक्षात् प्रवेश द्वार है। मल-मूत्र की खान है।"

"अरे ! मोक्ष के महान् सुख के लिये चक्रवर्ती अपने तुच्छ वैभव को छोडता है, इसमें क्या आश्चर्य है। परन्तु जो सर्वथा दुःखदायक विषय, उनके सेवन के लिये त्रैलोक्य पूज्य मुनिपद को छोडना चाहता है यह बडा आश्चर्य है !! **स्त्रियों के कटाक्षरूपी लुटेरों से जिसकी वैराग्य संपदा लुट गई है, ऐसे तप से तो गृहस्थपना श्रेष्ठ है।"**

"अहो ! जैसे शिकारी के भय से खरगोश फाडे हुए अजगर के मुख को बिल जानकर प्रवेश करता है। वैसे ही अज्ञानी जीव विषयों

के आताप से पीडित, स्त्रीरूपी अजगर के मुख मे जाकर प्रवेश करता है। विषय कषायों मे प्रवेश करना, यह ससाररूपी अजगर का बड़ा मुख है।"

इस प्रकार पुष्पडाल के लिये मुनिपना धारण किये बारह वर्ष हो गये। वारिषेण ने अनेक बार उपदेशामृत का सिचन किया पर पुष्पडाल के हृदय से स्त्री की शल्य न निकली।

(३)

"जब तक अन्दर काटा लगा हो तब तक बाहर का फोडा भी ठीक नही होता, ऐसे ही जब तक जीव के अन्दर मिथ्यात्व-कषाय या विषय वासना की शल्य रहती है तब तक उसके बाहर के व्रत नियम, सयम, तपश्चरणादिक सार्थक नही होते। इसलिये **निःशल्य जीव को ही सच्चा व्रती कहा गया है।**"

अन्दर मे खटक हो तो बाहर मे भी जीव अटक जाता है। जब वारिषेण ने पुष्पडाल की तपश्चर्या सार्थक होती न जानी तो उन्होने तीर्थयात्रा करने का विचार बनाया, और पुष्पडाल को साथ लेकर यात्रा के लिये चल दिये।

दोनो मुनि यात्रा करते-करते विपुलाचल पर्वत पर पहुचे जहा भगवान महावीर का समवशरण आया हुआ था, वहा नमस्कार करके मुनियो के कोठे मे जाकर बैठ गये। वहा गधर्व ने भगवान की स्तुति मे एक श्लोक पढा—"हे भगवन् ! आपने पृथ्वीरूपी स्त्री को तीस वर्ष तक भोग कर छोड दिया, इसलिये वह बेचारी आपके विरह में दु:खी होकर नदीरूप आसु बहाकर रो रही है।"

यह श्लोक सुनकर पुष्पडाल को अपनी स्त्री की याद गहरी हो आयी कि मैने भी स्त्री के बिना पूछे ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी। मेरे विरह मे बारह वर्ष हो चुके, न जाने उस बेचारी की क्या दशा हुई होगी ? मैने भी बारह वर्ष से उसका मुख नही देखा। वह भी मेरे विछोह मे रोती होगी, इसलिये घर जाकर उसका समाधान करूंगा और कुछ काल उसे गृहस्थी का सुख देकर पश्चात् दीक्षा धारण कर लूंगा।

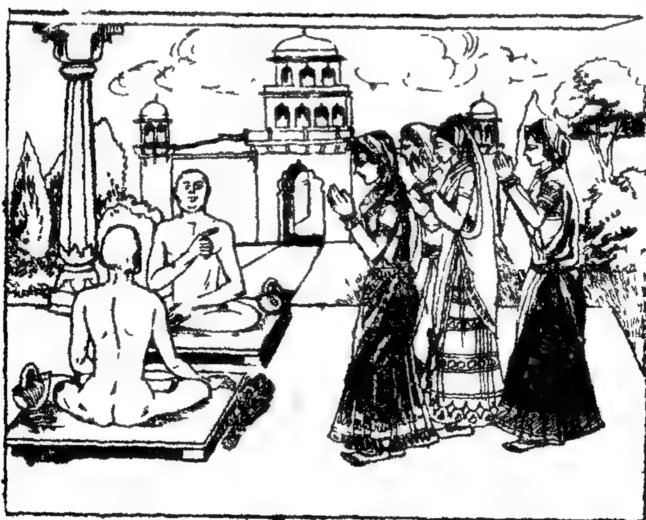
ऐसा सोचकर वह घर की ओर चल दिया। वारिषेण भी उसके हृदय की बात जानकर उसके पीछे-पीछे चलने लगे और पुष्पडाल से बोले—"पहले हम राजगृही चले पश्चात् पलाशकूट चलेंगे। यह सुनकर पुष्पडाल ने राहत की सास ली कि अब मुझे अपनी स्त्री के दर्शन हो सकेंगे। उसका स्थितिकरण करने की दृष्टि से वारिषेण उसे राजमहल मे ले गये।

वारिषेण को अपने महल की ओर आता देखकर माता चेलना ने सोचा--लगता है पुत्र चारित्र से चलाय मान हो गया है, नही तो असमय मे यहा आने की क्या अवश्यकता थी ? यह विचार कर उसने एक रत्नजडित स्वर्ण का और दूसरा काष्ठ का पाटा डाल दिया। वारिषेण मुनिराज तो काष्ठ के पाटे पर बैठे गये पर पुष्पडाल स्वर्ण के पाटे पर बैठे। "सच्चे मुनि की बहिरग क्रियाए आगम विरुद्ध एव सन्देहजनक नही होती।"

पश्चात् वारिषेण अपनी माता की शल्य दूर करने के लिये एवं पुष्पडाल की शल्य निकालने के लिये बोले—"माता मेरी सब स्त्रिया को यहा बुलवा दीजिये।"

माता चेलना ने वैसा ही किया। थोड़े समय में समस्त स्त्रियां वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर इन्द्र की इन्द्राणियों को लज्जित करती हुई आयी और मुनिराज के चरणारविन्दों को नमस्कार करके खड़ी हो गईं और उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगीं।

पश्चात् वारिषेण ने पुष्पडाल से कहा—"देखो ! ये मेरी स्त्रियां हैं, यह राज्य है, यह सम्पत्ति है, यदि तुम्हे इनमे कुछ सुख भासित होता हो, और तुम्हारा संसार से प्रेम हो तो तुम इन्हे स्वीकार करो।



पश्चात् मुनिराज वारिषेण इस शरीर की दशा का चित्रण करते हुए बोले—

"हे आत्मन् ! जो यह मनुष्य शरीर तुझे ऊपर से सुन्दर नजर आ रहा है, वह तो मल-मूत्र की थैली पर सुन्दर वर्क जैसा चाम चढ़ा है। वास्तव में यह रोगरूपी सर्पों का बिल है, अनित्य है अपवित्र है, दुख का कारण है, नि सार है। कोटि यत्न करते-करते भी विनस जाता है। यह शरीर धोते-धोते भी मैल को ही उगलता है, सुगंध, ईतर-फुलेल लगाते-लगाते भी दुर्गन्ध वमता है। पोषते-पोषते बलवान नही होता, सुख से रखते-रखते भी अपना नही होता, भूषित करते-करते दिन-दिन विरूप होता है। सुधारते-सुधारते भयानकता धारण करता है। सुख देते-देते दु:खरूप होता जाता है, मन्त्रते-मन्त्रते भयभीत रहता है। दीक्षारूप होता-होता भी साधुओं के मार्ग को दूषित करता है। शिक्षा देते-देते भी गुणो मे नहीं रमता। दुख भोगते-भोगते भी कषायो के उपशयभाव को रोकते-रोकते भी पाप मे ही प्रवर्तन करता है। प्रेरणा करते-करते भी धर्म को धारण नही करता।

मर्दन करते-करते भी दिन दिन कठोर कर्कश होता जाता है। चदनादिक सीचते-सीचते भी चित्त से जलता है। पोषण करते-करते भी कफ से गलता है। पूछते-पूछते भी कोढादिक रोगों से मिलता है। चमडे से बधा है तो भी क्षीण होता चला जाता है। रक्षा करते-करते भी काल के मुख मे प्रवेश करता है।

भो धर्म के धारक, सचेत हो ! शरीर का ऐसा निंद्य स्वभाव जानकर इससे विरक्त हो ! यह संसार रूपी वन सर्वत्र शोकरूपी दावानल से व्याप्त है। उसमें जो मूढजन रूपी हिरण, स्त्री रूपी हिरणी में आसक्त होकर रहते हैं, निर्दय कालरूपी व्याघ्र उन्हें क्षण भर मे नष्ट कर देता है।"

"अहो ! अपने आनंद निधान को भूलकर सारा जगत भिखारी है। क्योंकि वह धन, स्त्री, पुत्रादि विषयों के पास आनंद की भीख मांगता है। अरे ! विषयों के भिखारी ! तू तो चैतन्य राजा है, अतीन्द्रिय आनंद के निधान से भरा हुआ है। इन्द्रिय विषयों के पास भीख न मांग ··· जरा शरमा ! भिखारीपन छोड़कर अपने आनंद निधान भगवान आत्मा को संभाल अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता बन।

अरे ! स्वप्न जैसा संसार समस्त संयोग क्षण में फू हो जायेगा। अहो ! एक तरफ ज्ञान सिन्धु और दूसरी ओर भवसिन्धु है, जहां तुझे रुचे, वहां जा। थोड़े भी सत्य ग्रहण में केवलज्ञान प्रगट करने की ताकत है, और थोड़ा विपरीत ग्रहण करने मे अनंत निगोद के भव करने की ताकत है।

अरे प्रभु ! तू आनन्द स्वरूप भगवान है। तुझे दुःख शोभा नहीं देता, स्वभाव से तू ज्ञायकस्वरूप भगवान ही है। पर्याय में कृत्रिम विकार है, इसकी दृष्टि छोड़ दे तो पर्याय में भी भगवान बन जायेगा। एक समय की पर्याय दृष्टि से अनन्तकाल दुख में गया और अनादि सत्ता वाला प्रभु पड़ा रहा। उठ······ जाग······ चेत ! फिर ऐसा अवसर कब मिलेगा।"

वारिषेण का उपदेश सुनकर एवं उनकी महान विरक्तता देखकर पुष्पडाल उनके चरणो मे लोट गया। प्रभो, आप धन्य है। मैं तो जन्मान्ध हूँ। आज आपने मेरे चैतन्य चक्षु खोल दिये हैं। अब मुझे सारा जगत विषमय नजर आ रहा है। मुझ पापी ने व्यर्थ के मोह मे बारह वर्ष की साधना व्यर्थ कर दी। प्रभो ! मुझे प्रायश्चित

दीजिये। धन्य हैं आप ! जो सर्वांग सुन्दर रानियों को आत्महित के कारण छोड़ दिया।

बाद मे वारिषेण ने पुष्पडाल को उचित प्रायश्चित्त देकर उसके फिसलते चरण को थाम दिया। उसका पुनः मुनिधर्म मे स्थितिकरण किया। धन्य है ज्ञानियों के स्थितिकरण अंग को ! ज्ञानी स्व को या पर को धर्म मे शिथिल जानकर अपना एवं पर का धर्म में स्थितिकरण करता है। रत्नत्रय की साधना मे स्थिर होना ही वास्तव में स्थितिकरण है। अहो ! ज्ञानियों के इस हस्तावलबन तुल्य स्थितिकरण की महिमा अतुल्य है।

तदनन्तर वारिषेण एव पुष्पडाल उग्र तपश्चरण करते हुए समाधिमरण पूर्वक महर्द्धिक देव हुए एवं अल्पकाल में साधना की पूर्णता करके परमात्मपद की प्राप्ति करेंगे। धन्य है उन आत्माराधक भव्यात्माओ को।

उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वो स्थितिकरणयुत सम्यक्तदृष्टि जानना।"

"समकित" द्वार

जैसे नगर मे प्रवेश करने का कारण द्वार है द्वार बिना नगर मे कैसे प्रवेश होय ? तैसे ज्ञान चारित्र तप वीर्य इनमे प्रवेश करने का द्वार "समकित" है। ज्ञान चारित्रादि आत्मा के अनन्त गुण "समकित" द्वारे जीव के प्रवेश करे हैं, "समकित" बिना ज्ञान चारित्रतप वीर्य आत्मा के नही होय है।

जैसे मुख की शोभा नेत्रनिकरि है, तैसे ज्ञान चारित्र तप वीर्य "समकित" करि भूषित होय है जैसे बृक्ष के मूल है, तैसे ज्ञानादिकनि का "समकित" मूल द्वार है।

भगवती अराधना, गाथा ७४२

कथा-सार

* यह मनुष्यभव, इसमें उत्तमकुल, इन्द्रियो की परि-पूर्णता, उसमे धर्म का लाभ, ये सब मिलना बहुत दुर्लभ है, छूटने के बाद अनन्तकाल मे भी मिलना दुर्लभ है। राज वैभव बादलो के समान, युवावस्था इन्द्रधनुष के समान एव जीवन सडे हुए वृक्ष के समान क्षणभगुर है। अतएव इस पर्याय मे शीघ्र आत्महित कर लेना चाहिये।
* स्त्री का कलेवर कल्याण के भस्म करने को अग्नि ज्वाला का समूह है, मोक्षमार्ग के लिये अर्गला (बेडी) है और नरको का साक्षात् प्रवेश द्वार है।
* अपने आनद निधान को भूलकर सारा जगत भिखारी है, क्योकि वह स्त्री-पुत्र धनादि विषयो के पास आनन्द की भीख मागता है। जबकि चैतन्य राजा स्वय आनन्द निधान से भरा हुआ है।
* एक ओर ज्ञान सिन्धु दूसरी ओर भव सिन्धु, जहाँ तुझे रुचे वहाँ जा—।
* थोडा भी सत्य ग्रहण करने मे केवलज्ञान प्रकट करने की ताकत है। और थोडा भी विपरीत ग्रहण करने मे अनन्त निगोद के भव करने की ताकत है।
* स्थितिकरण अग के धारक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, स्व को या पर को सन्मार्ग मे शिथिल होता जानकर उसका स्थितिकरण करते हैं। रत्नत्रय की साधना मे अपने आत्मा को या पर के आत्मा को स्थिर करना ही वास्तव मे स्थितिकरण है।

७. व्योम-सा वात्सल्य

कपट रहित हो श्रेष्ठभाव से, यथायोग्य आदर सत्कार।
करना अपने सधर्मियों का, सप्तमांग "वात्सल्य" विचार।।
इसे पालकर प्रसिद्धि पाई, मुनिवर श्रीयुत "विष्णुकुमार"।
जिनका यश शास्त्रों के भीतर, गाया निर्मल अपरम्पार।।

कुरु जांगल देश मे हस्तिनापुर नाम का ऐतिहासिक एव प्रसिद्ध नगर है। इसमे महापद्म नाम के राजा अपनी लक्ष्मीवती रानी के साथ आनन्द पूर्वक राज्य करते थे। इनके कामदेव समान सुन्दर, ऐश्वर्य-शाली, जिनेन्द्र भगवान के भक्त पद्मराय और विष्णुकुमार नाम के दो पुत्र थे।

एक दिन श्रुतसागर नाम के आचार्य पाच सौ मुनियो के साथ सघ सहित विहार करते हुए हस्तिनापुर पधारे और नगर के बाहर उद्यान मे आकर ठहर गये। मुनियो के आगमन का समाचार सुन-कर राजा को अत्यन्त आनद हुआ। राजा ने नगर मे आनन्दभेरी बजवा कर समस्त प्रजा को एकत्रित किया। श्रावक समुदाय सहित राजा मुनियो के दर्शनो के लिये गया। राजा ने पुरजन एव परिजनो के साथ मुनिराज का पूजन एवं स्तुति की।

"ते गुरु मेरे उर बसो, जे भवजलधि जिहाज।
आप तिरें पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज।।"

पश्चात् मुनिराज ने राजा को "धर्मवृद्धि" पूर्वक भव्य जानकर वैराग्यमय सम्बोधन दिया—

"हे राजन् ! इस लोकरूप क्षेत्र में अनन्तानन्त काल आत्मा को पंचपरावर्तन में परिभ्रमण करते हुए बीत गया। उसमें कोई ऐसा पुद्गल बाकी नहीं बचा जो शरीररूप धारण न किया हो। और तीनसौ तेतालीस राजू प्रमाण क्षेत्र में ऐसा कोई प्रदेश बाकी नहीं रहा जहां अनन्तानन्त बार इस जीव ने जन्म और मरण न किया हो। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बीस कोड़ा-कोड़ी सागर में ऐसा कोई काल का एक समय बाकी नहीं बचा जिसमें ये जीव अनन्तबार जन्मा एवं मरा न हो। और नरक, तिर्यंच मनुष्य, देव इन चार गतियों में जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु पर्यन्त समयोत्तर ऐसी कोई पर्याय बाकी न रही जिसको अनन्तबार इस जीव ने न पाया हो।

इस पच परावर्तनरूप भयकर ससार मे इस जीव ने समस्त दुर्लभ वस्तुए अनन्तबार प्राप्त की, पर अष्ट अग सहित सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त न किया। आत्मज्ञान रहित मुनिपना भी अनन्तबार धारण किया पर रचमात्र भी सुख न पाया। भो आत्मन्! कही एक बार भी आत्मज्ञान सहित रत्नत्रय धारण किया होता तो ससार परिभ्रमण का अन्त हो जाता।"

"मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।"

मुनिराज के वैराग्यमय उपदेश से राजा महापद्म ससार से विरक्त हो गया। वह विचारने लगा—"अहो ! अनादिकाल से मोहवश इन्द्रियो के आधीन होकर मैंने अपना कल्याण न किया, जीवन तो ओसबिन्दु समान क्षणभगुर है। भोगों से सुख की अभिलाषा

वह तो ओसबिन्दु चाटकर तृषा बुझाने जैसा है अथवा शहद लपेटी तलवार चाटकर आनंद मनाने जैसा है। इन्द्रियों के आताप तुल्य त्रैलोक्य में आताप नहीं है, इस आताप से मारा जीव विषयों में झपट्टे मारता है।

अग्नि से तप्तायमान लोहे के गोले की तरह इन्द्रियो के ताप से तप्तायमान यह आत्मा अत्यत तृष्णा से विषयो के वेग को सहने में असमर्थ होकर विषयो मे पड़ते है। जैसे कोई पुरुष अग्नि की ज्वाला से जलता हुआ, विष्टा के भरे महादुर्गन्धित गहरे खड्डे मे जाकर गिरता है और उसमे मस्तक पर्यन्त डूबकर आनद मानता है। ऐसे विषयो को छोडकर अब तो शीघ्र आत्म कल्याण करने जैसा है।"

ऐसा विचार कर राजा ने पद्मराय को राज्य पद एव विष्णु-कुमार को युवराज पद देकर स्वय को दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।

पिता को दीक्षा धारण करते देखकर विरक्त चित्त से विष्णु कुमार बोले—"हे तात ! यदि राज्य, वैभव, भोग, हाथी-घोड़े सब नि सार है, और आत्मकल्याण ही एक सार है, तो मुझे भी ससार की इन नि सार वस्तुओ से क्या प्रयोजन ? आप जिस सामग्री को दु ख का कारण एव ससार सागर मे डुबोने वाली मानकर छोड़ रहे है, उस पाप के बोझ का मै क्यों अपने मस्तक पर धारण करूं। कीचड मे लिप्त होकर स्नान करने से अच्छा है, उस कीचड़ में लिप्त ही न होऊ। आयु का कोई ठिकाना नही, वह छोटी-बड़ी उमर को नहीं देखती, यह जीवन तो आयुरूपी मगर के मुख मे ही जानना।"

अत: मैं भी दिगम्बरी दीक्षा धारण करूंगा। आज से वन जगल ही मेरा महल होगा। भूमि ही मेरी शय्या और आकाश ही मेरे वस्त्र होंगे। पशु-पक्षी ही परिजन होगे, ध्रुव चैतन्य धाम ही मेरा विश्राम स्थल होगा। इसमे ही आदि अनन्तकाल तक विहार करूंगा।

ऐसा विचार कर विष्णुकुमार भी अपने पिता के साथ ही दीक्षित हो गये और पिछी कमडल लेकर वन जगल की ओर चले गये। क्योकि वन जंगल ही मुनियो के साधना स्थल हैं। वन मे जाकर विष्णुकुमार उग्र तपश्चरण-पूर्वक आत्म साधना करने लगे।

"पुत्र वही है जो पिता के पदचिह्नों पर चले और पिता वही जो पुत्र को सन्मार्ग पर लगाये।"

(२)

अवन्ती देश के उज्जैनी नगर मे श्रीवर्मा नाम के राजा राज्य करते थे। राजा बहुत धैर्यवान, विचारवान शास्त्रवेत्ता और नीति परायण थे। उनकी महारानी का नाम श्रीमती था।

बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और निर्मुचि ये राजा के चार मत्री थे। ये चारो वेद ज्ञान क ज्ञाता और जिन धर्म के महान शत्रु थे। इन पापियो से युक्त राजा ऐसा मालूम होता था जैसे सर्पों से युक्त चदन का वृक्ष।

एक दिन मुनिराज अकम्पनाचार्य देश-विदेश मे पर्यटन कर भव्यजीवो को धर्मोपदेश के द्वारा अध्यात्म अमृतपान कराते हुए उज्जैनी नगरी मे आये। उनके साथ सातसौ मुनियों का महासघ

था। वे नगर के बाहर पवित्र भूमि में आकर ठहर गये। क्योंकि मुनियो का नगर मे ठहरना विषय भोग का निमित्त होने से वर्जित है।

अकम्पनाचार्य को निमित्तज्ञान से उज्जैनी की स्थिति अनिष्ट जान पड़ी। इसलिये उन्होने समस्त सघ को चेतावनी दे दी–"देखो ! राजा आदि कोई दर्शनार्थ आये तो उनसे कोई वाद-विवाद न करे, अन्यथा सारा सघ कष्ट मे पड़ सकता है।

आचार्य ने जिस समय यह आज्ञा दी उस समय श्रुतसागर मुनिराज आहार के लिये नगर मे गये हुए थे। अत. वे गुरु की आज्ञा न सुन पाए ।

मुनिराजो के पधारने का समाचार जब राजा ने सुना तो समस्त परिवार एव प्रजा सहित उनके दर्शनार्थ आया। चारों मत्री भी श्रद्धा न होने पर भी राजा के रुष्ट हो जाने के भय से राजा के साथ वहा आये, परन्तु अन्दर मे तो चारो मुनिराजो को देखकर जल रहे थे।

जब मुनियो ने राजा एव मत्रियो को आते हुए देखा तो वे सभी मौन धारण कर ध्यानस्थ हो गये।

राजा सब मुनिराजो की वन्दना करता हुआ आगे बढ गया। उसने सब को अत्यत भक्तिपूर्वक नमस्कार किया।

जब किसी मुनिराज ने राजा को 'धर्मवृद्धि' भी न कही, तो मन्त्रियो ने मुनिराजो की निन्दा करते हुए राजा से कहा—"महा-

राज" ! देखा आपने, बेचारे साधु बोलना तक नहीं जानते, सब नितान्त मूर्ख हैं, यही कारण है कि सब मौन बैठे हुए हैं।"

इस प्रकार मुनिराजों की निन्दा करते हुए मलिन हृदयी मन्त्री राजा के साथ वापस आ रहे थे। रास्ते मे उन्हे श्रुतसागर मुनिराज जो कि नगर से आहार लेकर सघ की ओर वापस जा रहे थे, दिखाई दिये।

उन्हे देखकर एक पापी मन्त्री बोला - "देखिये महाराज ! एक बैल पेट भरकर वह चला आ रहा है।"

मुनिराज ने मन्त्रियो के निन्दापरक वचनों को सुन लिया। यद्यपि उन्हें निन्दा-प्रशंसा में शान्त रहना चाहिये था, परन्तु उन्हे आचार्य की आज्ञा मालूम न होने से विचार आया कि—"इनको अपनी विद्या का बड़ा गर्व है, मै इनके अभिमान को चूर्ण करूगा।"

"तुम व्यर्थ क्यो किसी की निन्दा करते हो ? यदि तुम्हे कुछ विद्या का अभिमान है तो मेरे से शास्त्रार्थ करो। फिर तुम्हे स्वय ज्ञात हो जायेगा कि कौन बैल है ?"

भला अहकारी मन्त्री मुनिराज के इन वचनो को कैसे सहन करते ? और वे मुनिराज के साथ वाद-विवाद करने में उलझ गये। मुनिराज ने अपने अकाट्य तर्कों से क्षणभर मे मन्त्रियो के अभिमान को चूर कर दिया। चारो मन्त्री राजा के सामने हार मानकर बहुत लज्जित हुए, और अन्दर ही अन्दर उनके विद्वेष की आग जल उठी। वे सब इस अपमान का बदला लेने की सोचने लगे।

"वास्तव में आत्मज्ञान रहित शास्त्रज्ञान निष्फल है। इसलिये अन्य कुशास्त्र ज्ञान की बात तो दूर रही, परन्तु ग्यारह अंग का पाठी अभव्य जीव भी संसार ही में परिभ्रमण करता है। अपथ्य-सेवन करने वाले रोगी की तरह अपात्र जीवों को शास्त्रज्ञान गुण-कारी नहीं होता। सम्यग्दर्शन बिना अनेक व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, कोषादिक पढ़ना विपरीत धर्म में अभिमान और लोक में प्रवर्तन कराकर संसाररूप अंधकूप में डुबोने के अर्थ जानना।

इस इन्द्रिय ज्ञान का क्या गर्व करना? क्षणभर में चलायमान हो जाता है। इन्द्रिय ज्ञान तो इन्द्रियों के साथ ही विनश जायेगा। और यह मिथ्याज्ञान तो ज्यों-ज्यों बढ़ेगा त्यों-त्यों दुराचरण में प्रव-र्तन कराकर संसार में डुबो देगा इसलिये श्रुतज्ञान का मद छोड़कर आत्मज्ञान करना ही कार्यकारी है। ज्ञान पाकर अज्ञानी जैसे आचरण कर ससार में भ्रमण करना योग्य नहीं। हे आत्मन्! ज्ञान का मद छोड़कर सम्यग्ज्ञानरूप ही प्रवर्तन करो।"

इधर जब श्रुतसागर मुनिराज ने अपने सम्पूर्ण वृतान्त को आचार्य देव को सुनाया, तो आचार्य गभीर होकर बोले—"तुमने ये अच्छा कार्य नही किया। उन दुष्ट मन्त्रियो के कारण सपूर्ण संघ पर उपसर्ग हो सकता है। तुम्हे उन दुष्टों के साथ वाद-विवाद नही करना चाहिये था।"

"वाद-विवाद करना साधुओं का काम नहीं हैं। जिस तरह सर्प को दूध पिलाना उनके जहर को ही बढ़ाता है, उसी तरह पापियों को दिया गया उपदेश एवं उनके साथ किया गया वाद-विवाद उनके क्रोध को ही बढ़ाता है।"

"जगत में तो ना-ना प्रकार के जीव हैं, उनके ना-ना प्रकार के कर्म हैं, ना-ना प्रकार की लब्धियां हैं, ना-ना प्रकार की उनकी कषायें हैं, ना-ना प्रकार की योग्यता है। इसलिये स्वमत एवं परमत के साथ वाद-विवाद वर्जित करना योग्य है।"

"जैसे सिंहनी का दूध स्वर्णपात्र मे ही ठहरता है, उसी तरह **जिनधर्म का उपदेश भी पात्र जीव ही पचा सकता है।** मेढको को उपदेश देना जैसे व्यर्थ है, वैसे ही मूर्खों को उपदेश देना भी अकार्यकारी है। अतः मौन रहना ही श्रेष्ठ है।"

अब यदि तुम सारे सघ की जीवन रक्षा चाहते हो तो, जहां तुमने उन दुष्टो से शास्त्रार्थ किया था, उसी स्थान पर जाकर कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यानस्थ रहो। वे दुष्ट मत्री बदले की भावना से रात्रि मे कुछ अनर्थ भी कर सकते है। सर्प की तरह दुष्ट एव पापी जीवो का कुछ भरोसा नही।

आचार्य की आज्ञा सुनकर श्रुतसागर मुनिराज अपने कृत्य का उचित प्रायश्चित जानकर उसी स्थान पर जाकर पुनः कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यानस्थ हो गये। उन्हें सघ की रक्षा मे अपने प्राण जाने का भी भय नही था। वे अपने आत्मध्यान मे सुमेरुवत् निश्चल खडे थे। सारा वातावरण कुछ अनर्थ की चिन्ता से निस्तब्ध एव शात था। धीरे-धीरे रात्रि की तरह कर्म की काली घटा उनके चारों ओर छाने लगी। सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हो गया।

(३)

"मान महा विषरूप, करहि नीचगति जगत में।"

"एक कषाय अनेक कषायों एवं पापों को जन्म देती है। मान-भंग होने पर जीव को क्रोध कषाय प्रज्वलित हो जाती है, क्रोधान्ध व्यक्ति कार्य-अकार्य का विवेक खोकर महान अनर्थ कर बैठता है।

जब इस जीव के क्रोध कषाय उत्पन्न होती है तब दूसरे का बुरा करने की इच्छा होती है। उसके अर्थ अनेक उपाय विचारता है, मर्मच्छेदी गाली बकता है, शस्त्र पाषाणादि से घात करता है, स्वयं अनेक कष्ट सहन करके व मरणादि द्वारा अपना बुरा कर के भी अन्य का बुरा करना चाहता है। अपने इष्ट जन बीच में आ जायें तो उनका भी बुरा करने लग जाता है। अन्य का बुरा न हो तो बहुत संतापवान होता है, अपने अंगों का घात करता है तथा विषादि से मर जाता है।"

"**जब इस जीव के मान कषाय उत्पन्न होती** तब औरों को नीचा व अपने को ऊंचा दिखाना चाहता है। अन्य की निन्दा व अपनी प्रशंसा करता है। यदि कोई सम्मान न करे तो भयादिक दिखाकर दुख उत्पन्न करके भी अपना सम्मान कराना चाहता है। यदि अन्य नीचा और स्वयं ऊंचा दिखाई न दे तो बहुत संतापवान होता है, अपने अंगों का घात करता है तथा विषादि से मर जाता है। ऐसी दशा मान उत्पन्न होने पर होती है।"

अपने मान-भंग का बदला चुकाने के अर्थ वे चारों क्रोधान्ध मंत्री, हाथों में नंगी तलवारें लेकर मुनिराज का प्राणान्त करने के लिये अर्द्ध रात्रि के समय निकले।

मार्ग में जाते समय उनको शास्त्रार्थ होने के ही स्थान पर श्रुत-सागर मुनिराज ध्यानस्थ खड़े मिले। जैसे शिकारी को देखकर सिंह

गुर्राता है अथवा हाथी को देखकर कुत्ते भौंकते हैं, उसी तरह वे चारों दुष्ट मंत्री मुनिराज को देखकर अनर्गल बडबड़ाने लगे। "यही वह दुष्ट है जिसके कारण हमें राजा के सामने नीचा देखना पड़ा। पहले इसे ही परलोक पहुचा देना चाहिये, पश्चात अन्य सब को देखेंगे।

चारो दुष्ट मंत्रियों ने एक साथ मुनिराज पर वार करने के लिये अपने-अपने खड्ग निकाले और ज्यों ही वार करने को उद्यत हुए त्यों ही पुण्योदय से दैवीय प्रभाव के कारण चारो के चारो वही पाषाण स्तभ की तरह कीलित रह गये।



प्रात:काल होते ही विद्युत वेग की तरह सम्पूर्ण नगर में यह समाचार कौंध गया। नगर के समस्त लोग राजा सहित उक्त घटना देखने आये। सब ने उन चारों मंत्रियों को एक स्वर में धिक्कारा! राजा ने भी बहुत धिक्कारते हुए कहा – "पापियों! जब तुमने मेरे सम्मुख ही इन निर्दोष दयालु मुनिराजों की निन्दा की थी तब मैंने समझा था शायद ऐसा ही हो! पर आज तुम्हारी नीचता एव दुष्टता का ज्ञान हुआ है। तुम चारो इन निर्दोष वीतरागी गुरुओं की ही हत्या करने यहा आये थे। पापियो! तुम्हारा तो अब मुंह देखना भी ठीक नही। तुम्हारे पाप का दण्ड तो यही होता है कि तुम्हें शूली पर चढा दिया जाय, पर दुष्टों! तुम ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए हो और तुम्हारी कितनी ही पीढिया मेरे यहाँ मंत्री पद पर प्रतिष्ठा पा चुकी है, इस कारण तुम को प्राणान्त करने का दण्ड न देकर अपने नौकरो को आदेश देता हू कि तुम्हारा काला मुंह करके गधों पर बैठाकर मेरे देश की सीमा के बाहर कर दे।"

राजाज्ञा का उसी समय पालन हुआ, चारों मन्त्री उसी समय अपमानित करके देश की सीमा से बाहर निकाल दिये गये। "पापियो को अपने पाप की सजा तो मिलना ही चाहिये नहीं तो नीतिमार्ग विच्छिन्न हो जायेगा।"

धर्म के प्रभाव को देखकर लोगों के हर्ष का ठिकाना न रहा। श्रुतसागर मुनिराज एव धर्म की जय-जयकारों से सारा आकाश गूंज उठा। मुनिसघ पर महान उपसर्ग होते-होते टल गया। पश्चात् अकंपनाचार्य भी उज्जैनी से संघ सहित विहार कर गये।

(४)

पिता के दीक्षित हो जाने के बाद हस्तिनापुर का राज्य पद्मराय करने लगे। सब प्रकार का सुख होने पर भी उन्हे एक बात का बड़ा दुःख लगा रहता था। कुम्भपुर का राजा सिंहबल उनको अनेक प्रकार के कष्ट देता रहा था, वह बार बार उनके राज्य मे उपद्रव किया करता था तथा उनके कार्य में बाधा डालता था। इसी समय श्री वर्मा के चारों मन्त्री कुछ समय पश्चात् यत्र-तत्र परिभ्रमण करते हुए हस्तिनापुर जा पहुचे। उन्हे राजा के इस गुप्त दुःख का भेद पता पड गया, इसलिये वे राजा से मिले और राजा को इस दुःख से मुक्त होने का वचन देकर कुछ सेना लेकर अचानक सिहवल पर जा चढे और अपनी बुद्धि से किले को तोडकर सिहबल को बाध दिया तथा राजा पद्मराय के सामने लाकर उपस्थित कर दिया। पद्मराय ने प्रसन्न होकर उन चारों को मन्त्रीपद प्रदान कर दिया और कहा कि "तुमने हमारा बहुत उपकार किया है यद्यपि इसका प्रतिफल नही दिया जा सकता तो भी तुम को जो रुचिकर हो, वह मैं देने को तैयार हूँ।"

उत्तर मे बलि नामक मन्त्री बोला—"महाराज! जब आपकी हम पर कृपा है तो हमे सब कुछ मिला चुका। अभी हमे कुछ आवश्यकता नही है। जब समय होगा तब आप से प्रार्थना कर लेगे।"

इसी समय अकपनाचार्य सघ सहित विहार करते-करते हस्तिनापुर के उपवन में आकर ठहरे। सभी लोग मुनिराज के आगमन का समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और हर्षपूर्वक वंदना के लिये गये।

जब बलि आदि मत्रियों ने उनके आगमन का समाचार सुना तो उन्हें अपने वैर का स्मरण हो आया, इन दुष्टों के कारण ही हमारी यह दुर्गति हुई है और हमे अनेक प्रकार के कष्ट उठाना पड़े हैं। अन्दर मे उन चारो के तीव्र विद्वेष की भावना उत्पन्न हो गई। और वे बदला चुकाने की सोचने लगे—"यद्यपि राजा इनका परम भक्त है, पर अपना पुरस्कार देने के लिये वह वचनबद्ध है। अभी उचित अवसर है इसलिये पुरस्कार के रूप मे सात दिन के लिये राज्य माग लेना चाहिये फिर हमको जो उचित लगेगा, वह करेंगे।"

यह बात सबको पसद आयी और बलि मत्री उसी समय राजा के पास पहुचा और विनय पूर्वक बोला—"महाराज! आप पर हमारा एक पुरस्कार शेष है, कृपया अब उसे देकर आप हमारा उपकार कीजिये।"

राजा मत्री के अतरग कपट को न समझ सका और ऋण चुकाने की दृष्टि से बोला—"अच्छा! ठीक है, जो तुम्हारी इच्छा हो सो माग लो।"

बलि बोला—"हे राजन! यदि आप वास्तव मे ही हमारी इच्छा पूर्ति करना चाहते है तो आप सात दिवस के लिये अपना राज्य दे दीजिये।"

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। उसे किसी बड़े भारी अनर्थ की आशका हुई। पर वचनबद्ध होने के कारण से राज्य देना ही पड़ा।

राज्य प्राप्त होते ही उन दुष्ट मन्त्रियों ने मुनिराजों पर घोर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। मुनियों के संघ के चारों ओर नरमेध यज्ञ की रचना की। चारों ओर काष्ठ एकत्रित किया गया और भयंकर अग्नि प्रज्वलित की। उसमें ब्राह्मण लोग मंत्रोच्चारण पूर्वक आहुतियां देने लगे। जिसमें सहस्त्रों पशुओं और मनुष्यों की भी बलियां दी जाने लगी। चारों ओर महादुर्गन्धमय धूम से सारा आकाश व्याप्त हो गया।



अरे रे ! क्या दशा हुई होगी मुनिराजों की, पर वे तो सब

समभाव पूर्वक समाधिमरण ग्रहण कर ध्यानस्थ हो गये और उपसर्ग टलने तक आहार त्याग कर दिया।

अहो, धिक्कार है इन दुष्टो की दुष्टता को ! जो निहत्थे मुनिराजों पर ऐसा घोर अत्याचार किया। देखते ही देखते मुनिराजो के शरीर उस अग्नि की ज्वाला मे दग्ध होने लगे। भयंकर दुर्गन्ध से उनको अपार वेदना हुई। सबके कण्ठ सूख गये गला रुध गया। अरेरे ! निरीह मुनिराज धीरे-धीरे मूर्छित होने लगे। अरे ! इस अत्याचार को देखकर पृथ्वी क्यो न फट गई ? पर जैसे पृथ्वी अपने धीर-गम्भीर स्वभाव को नही छोड़ती, वैसे ही उन मुनिभगवन्तो ने अपने धीर-वीर-गम्भीर स्वभाव को नही छोडा।

इस कुकृत्य को देखकर बलि आदि चारों मत्री बहुत प्रसन्न थे। ठीक है, **जिनकी होनहार खोटी होती है एवं नरक निगोद में जाने की काललब्धि आ जाती है, उन पापी दुष्टों को ऐसे पाप करने में ही आनन्द आता है।** यदि ऐसा न होता तो नरकादि गतिया खाली हो जाती।

"**अरेरे ! जरा से वाद-विवाद के कारण इतना बड़ा उपसर्ग !!** पर धन्य है, उन अकपनाचार्य आदि सात सौ मुनिराजो को ! जो न तो वाद-विवाद में पडे, न निन्दा-प्रशंसा मे विचलित हुए, परन्तु भयकर उपसंग मे भी सुमेरुवत् निश्चल रहे। **अरे ! जब दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ते तो मुनिराज अपने आप क्षमा स्वभाव को कैसे छोड़ें।** अहो ! धन्य है पृथ्वी के समान उनकी अद्‌भुत क्षमा, सहनशीलता एव धैर्य को।"

मुनिराजो पर घोर उपसर्ग देखकर नगर के लोगों में भी त्राहि-त्राहि मच गई । राजा की मूर्खता एव मन्त्रियो के इस घोर अत्याचार को सम्पूर्ण नगर धिक्कार रहा था । सम्पूर्ण पृथ्वी आज शोकाकुल थी । अरे ! जब राजा ही अन्याय करे तो प्रजा किसकी शरण मे जाये ? जब माता ही बालक को भखने लगे तो बालक कहा जाकर शरण पाये ? दु:ख के कारण नगर के समस्त नर नारियो ने भी अन्न जल का त्याग कर दिया। पशु पक्षी भी उनकी दुष्टता पर कलरव कर रहे थे ।

(५)

"संसारी जीवों को जैसे अपनी स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादिक एवं इन्द्रियों के भोगों में प्रीति होती है, उससे अनंतगुना प्रीति धर्मात्मा, मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविकाओं के प्रति होना ही धर्म वात्सल्य है । ऐसा यथार्थ वात्सल्य अग सम्यग्दृष्टि के ही होता है । जैसा स्वामी का भृत्य दास होता है, वैसे ही ज्ञानी का अरिहत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध सघ और शास्त्र मे दासत्व होता है । वह धर्म-धर्मायतन एव धर्मात्माओ पर आये किसी भी प्रकार के उपसर्ग को दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है। उनकी वैयावृत्ति मे अपना सब कुछ समर्पण कर देता है । **यह सब कार्य धर्म में अति प्रीति होने पर ही होता है ।**

ज्ञानियो के हृदय मे व्योम-सा वात्सल्य होता है । मिथिला नगरी के वन मे स्थित सारचन्द नाम के आचार्य ने कपायमान श्रवण नक्षत्र को देखकर अवधिज्ञान से जाना कि कही पर मुनियों को घोर कष्ट हो रहा है। अत "हा ! हा !! कष्ट !!" इस प्रकार खेद सूचक शब्द उनके मुख से निकले ।

आचार्य के दु:ख पूर्ण शब्दों को सुनकर समीप में रहने वाले पुष्पदन्त मुनिराज बोले—"प्रभो ! किसे ? कहां ? क्या कष्ट हो रहा है ?"

आचार्य बोले—"हस्तिनापुर में शक्ति आदि दुष्ट मंत्रियों ने अपना प्रतिशोध लेने के लिये अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों के ऊपर घोर उत्सर्ग करना प्रारम्भ कर दिया है। जिससे मुनियों को महान कष्ट हो रहा है। यह जिन शासन पर महान उपसर्ग आया है।"

"गुरुदेव ! इससे बचने का कोई उपाय हो तो आप बताएं, मैं शक्तिभर प्रयत्न करूंगा।"

"वत्स ! तुम आकाशगामी हो अतः शीघ्र धरणी-भूषण पर्वत पर चले जाओ, वहा विष्णुकुमार मुनिराज तपश्चरण कर रहे हैं। उन्हें विक्रिया ऋद्धि सिद्ध हो चुकी है, अत. उनके द्वारा यह मुनि-रक्षा का कार्य सम्पन्न हो सकता है।"

पुष्पदन्त मुनिराज शीघ्र आकाश मार्ग से मुनिराज विष्णुकुमार जहा ध्यानस्थ खडे थे, वहाँ पहुचे और उनको सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा—"महाराज ! आपको विक्रिया ऋद्धि प्राप्त है। अत. आप शीघ्र मुनिराजों की रक्षा करे।"

विष्णुकुमार ने अपनी विक्रिया की परीक्षा करने के लिये अपना हाथ बढ़ाया तो वह बढता ही चला गया। पश्चात् वे शीघ्र मुनि-पद छोडकर श्रावक के वेष मे राजा पद्मराय के महल में पहुचे। **"यह कार्य मुनिपद के योग्य न था अतः उन्हें मुनिपद छोड़ना पड़ा,**

बाद में इसका प्रायश्चित भी उन्हें लेना पड़ा। मुनिपद छोड़ना यह कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं है, परन्तु वात्सल्य अग की प्रधानता से उनकी प्रशसा की गई है। यहाँ छल ग्रहण नही करना चाहिये, नही तो व्रत भंग का महान दोष आयेगा।"

विष्णुकुमार ने पद्मराय को बुलाकर कहा—"आप इस कुरु वश मे कलक क्यो लगा रहे है ? मुनियो के नाश का महान पाप ये तुम्हारे राज्य मे शोभा नही देता। धिक्कार है तुम्हारे राज-पद को !"

"महाराज ! मैं इनके लिये वचन बद्ध था देने के लिये। यदि न देता तो वचन भग होने का पाप मुझे लगता। पर ये पापी ऐसा अन्याय करेंगे, इसकी मुझे शका भी न थी। अत. अब आप जैसा उचित समझे, वैसे उपसर्ग दूर करने का उपाय करें।"

तब विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से विष्णुकुमार ने वामन-ब्राह्मण का वेष बनाया और मधुर ध्वनि से वेद मन्त्रो का उच्चारण करते हुए बलि के यज्ञ मण्डप मे जा पहुचे। बलि उन्हे देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'महाराज ! आपने पधारकर मेरे यज्ञ की शोभा बढा दी। मै बहुत प्रसन्न हूँ आपकी जो इच्छा हो सो मागिये, अभी मैं सब कुछ देने मे समर्थ हूँ।"

तब विष्णुकुमार बोले—"मै तो एक गरीब ब्राह्मण हू, मुझे केवल तीन पग भूमि की आवश्यकता है। यदि आप प्रदान करगे तो उसमे अपनी झोपडी बनाकर वेदो की साधना करता रहूगा।"

"जैसी आप की इच्छा ! आप जहा उचित समझे तीन पग भूमि नाप लीजिये।" ऐसा कहकर विष्णुकुमार को आज्ञा दे दी।

तब आज्ञा पाकर विष्णुकुमार ने विक्रिया के प्रभाव से पहला पग तो सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर। अब तीसरा पग रखने को जगह न रही। उनके इस कार्य से संपूर्ण पृथ्वी कांपने लगी, पर्वत चलायमान हो गये, देव लोगो के आसन कम्पाय-मान हो गये। और वे विष्णुकुमार के पास आये तथा बलि को बांधकर उनके सामने उपस्थित करके हाथ जोडकर बोले—"प्रभो! यह सब अपराध इस दुष्ट-पापी का है। यह आपके सामने उपस्थित है। जैसा आप उचित समझ सो करे।"

यह सब आश्चर्य देखकर बलि का हृदय काप गया। वह कापता हुआ विष्णुकुमार के चरणो मे लोट गया और बारबार अपने पाप की क्षमा याचना करने लगा। अन्य मत्री भी विष्णुकुमार के चरणो मे लोट गये और अपने दुष्कृत्य को स्वय धिक्कारते हुए पश्चाताप करने लगे, दया की भीख मागने लगे। राजा ने भी उनके चरणो मे नतमस्तक होकर अपने अपराध की क्षमा मागी।

उपसर्ग को दूर हुआ जानकर समस्त लोग दर्शनो के लिये उमड पडे, सबने मुनिराज विष्णुकुमार की जयकारो से धरती आकाश गुंजा दिया। चारो ओर प्रसन्नता की लहर दौड गई। लोगो ने अकपनाचार्यादि मुनिवरो के धैर्य की एव विष्णुकुमार के अपूर्व धर्म वात्सल्य की बहुत सराहना की।

सब ने मुनिराजो के शरीर की वैयावृत्ति की, बहुत से मूर्छित हो गये थे, सभी के कण्ठ तालु सूख गये थे, किन्ही के शरीर अग्नि की लपटों से दग्ध हो गये थे। मुनिराजो के शरीर का प्रक्षालन किया। पश्चात् उपसर्ग दूर कर के सम्पूर्ण मुनिराजो का नगरी में आहार हुआ।

बलि आदि मन्त्रियों ने भी जिनधर्म का प्रभाव देखकर अपने मिथ्याधर्म को छोडकर जिनधर्म ग्रहण किया एव अपने पूर्वकृत दोषों का बहुत प्रायश्चित किया। हजारो लोगो ने साक्षात् जिनधर्म की महिमा देखकर श्रावक धर्म ग्रहण किया।

"यह मगल दिवस श्रावण की पूर्णिमा का था। इस दिन बलि आदि का बधन और मुनिराजो एव धर्म की रक्षा हुई इसलिये यह पर्व 'रक्षाबधन' के नाम मे चल पडा। **अपने स्वरूप की रक्षा कर के कर्मों से न बंधना, यही वास्तव में बंधन से रक्षा अर्थात् 'रक्षा-बंधन' है।** इस दिन हमे धर्म, धर्मायतन एव धर्मात्माओ की रक्षा करने का महान प्रण लेना चाहिये।"

सम्यग्यद्दष्टि धर्मात्माओ के ही ऐसा साधर्मियो के प्रति निश्छल वात्सल्य होता है।

"इस लोक में जो उपकार इस जीव का सम्यग्दर्शन करता है, ऐसा उपकार तीन लोक में होने वाले, इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्री, नारायण, बलभद्र, तीर्थंकरादिक समस्त चेतन द्रव्य और मणि-मन्त्र, औषधादिक समस्त अचेतन द्रव्य भी नही करते। इस जीव का सर्वोत्कृष्ट अपकार जैसा मिथ्यादर्शन करता वैसा तीन लोक मे कोई चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य नहीं करता। इसलिये मिथ्यात्व के त्याग एव सम्यक्त्व के ग्रहण में ही निरन्तर उद्यमवंत रहना योग्य है।"

"सम्यक्त्व सहित गृहस्थ है सो भी मोक्षमार्गी है। परन्तु मोही गृहरहित मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। सम्यक्त्व रत्न रहित कोटि वर्ष तप तपे तो भी निर्वाण प्राप्त नही होता, और सम्यक्त्व सहित जीव अन्तर्मुहुर्त में निर्वाण प्राप्त कर लेता है।"

"एक ओर सम्यग्दर्शन का लाभ प्राप्त हो और दूसरी ओर तीन लोक का समस्त राज्य प्राप्त हो, तो तीन लोक के राज्य की अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना ही यथार्थ सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन ही समस्त व्रतों की नींव है।"

हे भव्य! मिथ्यात्वादि को सात व्यसनों से भी बडा पाप जानकर शीघ्र छोडो एव सम्यग्दर्शन को परम मित्र जानकर शीघ्र अष्ट अग सहित स्वीकार करो।

अहो! धन्य है ज्ञानियो के गौ-वच्छ प्रीति सम निस्वार्थ धर्म वात्सल्य को।

"जो मोक्षपथ में साधुभय का वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्त दृष्टि जानना॥"



धिक्कार है अनन्तोबार

"इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय का एक पल भी अमूल्य वस्तु है। एक पल को व्यर्थ खोना एक भव हार जाने के समान है। चक्रवर्ती की समस्त सम्पत्ति से भी इस देह का मात्र एक समय भी विशेष मूल्यवान है-ऐसी यह मनुष्य देह और आत्महित के अनुकूल ऐसा सयोग प्राप्त होने पर भी जो जन्म-मरण से रहित परमपद का ध्यान नही रखता, उस मनुष्यत्व मे अधिष्ठित आत्मा को अनतबार धिक्कार हो!!"

—विराग वाटिका, पृष्ठ ४५

कथा-सार

* आत्मज्ञान रहित शास्त्रों का ज्ञान भी निष्फल है। ग्यारह अग का पाठी अभव्य जीव ससार मे ही परिभ्रमण करता है। इन्द्रिय ज्ञान तो इन्द्रियों के साथ ही चलायमान हो जाता है। यह मिथ्याज्ञान तो ससार रूप अधकूप मे डुबोने के अर्थ जानना। इसलिये ज्ञान का मद छोडकर सम्यग्ज्ञान रूप प्रवर्तन करना ही श्रेष्ठ है।
* वाद-विवाद करना साधुओ का कार्य नही है। सर्प को दूध पिलाने की तरह वाद-विवाद भी अज्ञानियो के क्रोध को ही बढाता है। जिन धर्म का उपदेश तो पात्र जीव ही पचा सकता है। मूर्खों के सामने तो मौन रहना ही श्रेष्ठ है।
* ससारी जीवो के जैसे अपनी स्त्री पुत्र धनादि मे प्रीति होती है, वैसी प्रीति धर्म-धर्मात्मा एव धर्मायतनो मे होना ही 'धर्म वात्सल्य' है। ऐसा यथार्थ धर्म वात्सल्य सम्यग्दृष्टि जीवो के ही होता है। मुनिराज विष्णुकुमार की भी वात्सल्य अग को प्रधानता से प्रशसा की है।
* श्रावण की पूर्णिमा के दिन बलि आदि का बधन और धर्म की रक्षा हुई इसलिये उसी दिन से यह पर्व 'रक्षा बधन' के नाम से चल पडा। वास्तव मे कार्यो से न बधकर स्वरूप की रक्षा करना ही सच्चा 'रक्षा बधन' है।
* इस लोक मे जीव का सर्वोत्कृष्ट उपकार सम्यग्दर्शन एव अपकार मिथ्या दर्शन करता है। सम्यक्त्व सहित गृहस्थ भी मोक्षमार्गी है, परन्तु गृहरहित मोही मुनि मोक्षमार्गी नही।

८. प्रभावना की प्रभा

जैसे होवे वैसे भाई, दूर हटा जग का अज्ञान।
कर प्रकाश, करदे विनाश तम, फैलादे शुचि सच्चा ज्ञान ॥
तन-मन-धन सर्वस्व भले ही, तेरा इसमें लग जावे।
"वज्रकुमार मुनीन्द्र" सदृश तू, तब "प्रभावना" कर पावे ॥

भरत क्षेत्र मे हस्तिनापुर नाम का ऐतिहासिक नगर है। वहां धर्मभूषण नीति-न्याय परायण महाराजा बल राज्य करते थे। उनके गरुड नाम का एक कुशल मत्री था। जिसके सोमदत्त नाम का एक पुत्र था, वह सुन्दर और शास्त्र का ज्ञाता था।

एक दिन सोमदत्त अपने मामा सुभूति के यहा अहिच्छत्रपुर गया। उसने अपने मामा से वहा के राजा से मिलने की तीव्र आकाक्षा व्यक्त की। सुभूति ने अभिमान मे आकर सोमदत्त की मुलाकात राजा से न करवाई तब उसे मामा की यह बात बहुत खटकी। अन्त मे वह स्वय वहा के महाराजा से मिलने गया। राजा ने उसके बुद्धि कौशल्य से प्रभावित होकर उसे राज्य का मंत्री पद प्रदान कर दिया।

सुभूति सोमदत्त का पाडित्य देखकर बहुत प्रभावित हुआ और अपनी यज्ञदत्ता नाम की पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। दोनो सुख पूर्वक रहने लगे। कुछ समय पश्चात् यज्ञदत्ता गर्भवती हो गई। यह समय चातुर्मास का था। यज्ञदत्ता के दोहद उत्पन्न हुआ।

और उसे आम खाने की प्रबल इच्छा जागृत हुई। आमों का समय न होने पर भी सोमदत्त आम ढूंढने निकल पड़ा। आमों के वन में किसी वृक्ष पर भी आम न थे। वहां एक वृक्ष के नीचे परमयोगी मुनिराज बैठे हुए थे और वह वृक्ष फलों से लदा हुआ था। उसने जान लिया कि यह सब प्रभाव इन्हीं मुनिराज का है, नहीं तो असमय में यहां आम कहां से आते? उसने बहुत से फल लेकर अपनी प्रिया को पहुंचा दिये और स्वयं नमस्कार कर के मुनिराज के चरण-कमलों में बैठ गया।

मुनिराज ने उसे पात्र जानकर संबोधन दिया—"हे भव्यात्मन्! **यह आत्मा अनादिकाल से भेद विज्ञान के बिना ही संसार में परिभ्रमण कर रहा है, और भेदविज्ञान होने पर ही सिद्ध दशा प्राप्त कर लेता है।** जिस समय स्व और पर का भेद विज्ञान हो जाता है। उस समय शुद्धात्मदृष्टि से रहित यह जगत चित्त में ऐसा जान पड़ता है मानो उन्मत्त और भ्रान्त हो। इसके दोनों नेत्र बन्द हो गये हैं, यह दिग्विमूढ़ हो गया है। गाढ़ निद्रा में सो रहा है। मनरहित असैनी मूर्छा से बेहोश और जल के प्रवाह में बहा चला जा रहा है। बालक के समान अज्ञानी है। मोहरूपी धूर्तों ने व्याकुल बना दिया है, बावला और अपना सेवक बना लिया है।

जो आलसी प्रमाद के उदय से 'शुद्धचिद्रूप' की चिन्ता छोड़कर अन्य कार्य में लग जाते हैं, वे अमृत को छोड़कर महा दुःखदायी विषपान करते हैं। यह 'शुद्धचिद्रूप का स्मरण मोक्षरूपी वृक्ष का कारण है। संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिये नाव है। दुःख रूपी भयंकर वन के लिये दावानल है। कर्मों से मनुष्यों के लिये

सुरक्षित सुदृढ़ किला है। विकल्परूपी रज के उड़ाने के लिये पवन का समूह है। मोहरूपी सुभट के जीतने के लिये शस्त्र है। नरकादि अशुभ पर्यायरूपी रोगों के नाश करने के लिये उत्तम औषधि है। तप-विद्या और अनेक गुणों का घर है।

जिस प्रकार पर्वतों में मेरु, वृक्षों में कल्पवृक्ष, धातुओं में स्वर्ण, पीने योग्य पदार्थों में अमृत, रत्नों में चिन्तामणि, ज्ञानों में केवल-ज्ञान, आप्तों में तीर्थंकर, गायों में कामधेनु, मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र महान और उत्तम हैं, उसी प्रकार ध्यानों में 'शुद्ध-चिद्रूपी'--आत्मा का ध्यान ही सर्वोत्तम है।

मोह के उदय से उन्मत्त जीव का मन जिस प्रकार सम्पत्ति और स्त्रियो मे रमण करता है, उसी प्रकार यदि वह शुद्धचिद्रूप की ओर रमण करे, तो देखते-देखते ही इस जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाए। हे भव्य! ऐसे शुद्धचिद्रूप के ध्यान के हेतु मुनि दीक्षा धारण कर तो तेरा इस ससार से उद्धार हो जायेगा।"

मुनिराज का ऐसा तात्विक उपदेश सुनकर सोमदत्त ससार से विरक्त चित्त हो गया। और शुद्धचिद्रुप अपने भगवान आत्मा के ध्यान के लिये नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण करके वन की ओर चल दिया। पश्चात् विहार करते हुए वे नाभिगिरी पर्वत पर पहुँचे और वहाँ कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यानस्थ हो गये। वहा उग्र तपश्चरण एव परोपहादि सहन करने से ध्यान के बल से उनकी आत्म शक्तियाँ वृद्धिगत होने लगी।

(२)

समय आने पर यज्ञदत्ता ने एक सुन्दर और होनहार बालक को

जन्म दिया। पर इस समय पति का वियोग उसे बहुत खटका। एक दिन उसे किसी के द्वारा अपने पति सोमदत्त के समाचार मालूम हुए तब उसने सम्पूर्ण वृत्तान्त कुटुम्ब वालो से कहा और उनको साथ लेकर नाभिगिरि पर्वत पर पहुच गई। तत्समय मुनिराज सोमदत्त आत्मध्यान कायोत्सर्ग दशा मे स्थित खड़े थे।

यज्ञदत्ता उन्हे मुनिवेष मे देखकर व्याघ्री की तरह क्रोधित हो गयी और मुनिराज पर अपशब्द कहना प्रारम्भ कर दिया—"रे दुष्ट ! पापी ! यदि तुझे ये स्वाग ही रचाना था तो मुझ से विवाह ही क्यो किया ? बता अब मै किसके पास रहूँ ? कौन मेरे पुत्र का पालन-पोषण करेगा ? मै किसके पास भीख मागू ? चल ...... घर, छोड इस पाखण्ड को। किस ठगिया ने तेरे ऊपर जादू कर दिया है, वह पापी भी दु ख पायेगा। मुझे दु खी कर के तू भी चैन से नही जी सकता।"

अहो ! मोह के उदय से उन्मत्त प्राणी इससे अधिक और क्या कह सकता है ? जगत के पागल प्राणी अनादिकाल से ही इस तरह ज्ञानियो को देखकर चिल्लाते है। परन्तु मुनिराज को मानो इन सब बातो की खबर ही न थी। वे तो अपने चैतन्य की अन्तर गिरि गुफा मे विहार कर रहे थे। कर्मोदय से ऐसे पुण्य-पाप के बादल तो गरजते और बरसते रहते है।

यज्ञदत्ता के अनेक तरह कहने पर भी जब सोमदत्त मुनिराज ने उनकी ओर दृष्टिपात भी न किया तो वह निर्दया क्रोध से लाल हो गई और उस नवजात शिशु को उस निर्जन वन मे ही उनके चरणों में पटक कर चली गई।



अरे ! मा का ममतामयी हृदय भी क्रोधादि कषायो के कारण

सिंहनी की तरह दुष्ट और क्रूर हो गया। जीव अनादिकाल से ही कषायों के वश होकर परेशान हो रहा है।

पुण्ययोग से वहां उसी समय दिवाकर देव नामक एक विद्याधर अपनी भार्या के साथ तीर्थ यात्रा करने के लिये जा रहे थे। अनायास ही उनकी दृष्टि मुनिराज पर पडी और वे उनकी वदना करने के लिये नीचे उतरे।

मुनिराज की वन्दना करते हुए उन्हे वही तेजस्वी बालक उनके चरणो मे खेलता हुआ दिखाई दिया। बालक को भाग्यशाली एव माता पिता के बिना जानकर उन्होने अपनी गोद मे उठा लिया। सौभाग्य से उनकी सूनी गोद भी बालक के कारण भर गई। मानो तीर्थ यात्रा के फलस्वरूप ही उन्हे यह उपहार मिला हो। बालक को पाकर दोनो दम्पति बहुत प्रसन्न हुए। पुत्र रत्न की प्राप्ति से अनायास ही उनका जीवन कृतार्थ हो गया। वे दोनो मुनिराज के चरणों मे बारबार नमस्कार कर उस बालक को लेकर प्रसन्नचित्त मे घर की ओर चल दिये।

(३)

"अरे! पुण्य पाप की दशा विचित्र है। क्षणभर मे वह नवजात शिशु कहा से कहा पहुँच गया। जिसे उत्पन्न होते ही मुनिराज के चरणों की शरण मिली हो, उसके धन्य भाग्य की क्या कहना! पुण्य उदय से समस्त अनुकूल सयोग स्वयमेव मिल जाते है।"

बालक को पाकर वह स्त्री धन्य हो गई। उसे बालक के स्पर्श से रोमांच हो आया। बालक के हाथ मे वज्र का चिह्न देखकर उसका

नाम 'वज्रकुमार' रख दिया। बालक रूप, सौन्दर्य और गुणों में दिनों दिन चन्द्रमा की कलाओं की तरह वृद्धिगत होने लगा। वह अपनी बाल सुलभ क्रीडाओं के द्वारा सबको आनन्दित करने लगा।

वह थोड़े ही दिनों में शास्त्र पारंगत एवं अनेक विद्याओं में प्रवीण हो गया। उसकी प्रतिभाशाली बुद्धि देखकर सब आश्चर्य करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार हीमन्त पर्वत पर प्रकृति की शोभा देखने गये। वहां पर एक विद्याधर पुत्री पवनवेगा विद्या साधन कर रही थी। विद्या साधते हुए एक तृण उसकी आँख में पडने से उसका चित्त चचल हो गया, जिससे विद्या साधने में बडा विघ्न उपस्थित हुआ। वज्रकुमार ने उसे ध्यान से विचलित होते देखा तो उसकी आँख से तिनका निकाल दिया। पवनवेगा ने निर्विघ्न होते ही विद्या सिद्ध कर ली।

विद्या सिद्ध होने पर पवनवेगा कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए वज्रकुमार के पास आयी और बोली—"आप ने जो मेरा उपकार किया है उसका बदला मे कैसे चुका सकती हूँ? पर यह जीवन आपके लिये समर्पण कर आपके चरणो की दासी बनना चाहती हूँ, मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिये।"

वज्रकुमार ने उसके प्रेमोपहार को स्वीकार कर लिया। शुभ अवसर पर दोनों का विवाह हो गया। दोनों आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार को ज्ञात हुआ कि मेरे पिता का राज्य हमारे चाचा ने छीन लिया है और उन्हें देश से निकाल दिया है

जिससे वे यहां अपनी बहिन के यहां रह रहे हैं, इस बात पर उसे बहुत क्रोध आया। पिता के अनेक प्रकार समझाने पर भी वह कुछ सेना और पत्नी की विद्याए साथ लेकर उसी समय अमरावती पर जा चढ़ा। पुरसुन्दर को इस चढाई का आभास न होने से, बात की बात मे वज्रकुमार ने उन्हें हराकर बाध लिया। अतः राज्य सिंहासन पुन दिवाकर देव के अधिकार मे आ गया। इस वीरता के कारण वज्रकुमार की प्रसिद्धि चारो ओर फैल गई। बड़े-बडे शूर-वीर उसके नाम से डरने लगे।

इसी समय दिवाकर देव की स्त्री के भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसे तभी से इस बात की चिन्ता हो गई कि वज्रकुमार के होते मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिलेगा ? पुत्र को राज्य मिलने मे यही एक काटा है। इसे किस तरह निकाला जाय ?

एक दिन वज्रकुमार ने अपनी माता के मुख से किसी को यह कहते सुन लिया कि वज्रकुमार बडा दुष्ट है। देखो ! कहा तो यह उत्पन्न हुआ और कहां आकर दु.ख दे रहा है।

ऐसा सुनते ही उसके हृदय पर वज्रपात हो गया। उसका हृदय जलने लगा। वह सत्य बात जानने के लिये उसी समय पिता के पास पहुचा और पूछने लगा—"पिताजी ! आप सत्य बतलाइये कि मैं किसका पुत्र हूँ ? कहा उत्पन्न हुआ हूँ और यहां कैसे आया ? मैं यह जानता हूँ कि मेरे सच्चे माता-पिता तो आप ही है, क्योकि आप ने ही मेरा पालन-पोषण किया है। तो भी मुझे यथार्थ बात जानने की तीव्र जिज्ञासा है।

वज्रकुमार के अधिक आग्रह करने पर दिवाकर देव ने उसको सम्पूर्ण वृत्तान्त बतला दिया। वज्रकुमार अपना वृत्तान्त सुनकर

संसार से विरक्त हो गया। पिंजड़े के पंछी की तरह उसका मन संसार से मुक्त होने के लिये तड़पने लगा। वह विचारने लगा—"समस्त पापों की जड़ यह आरम्भ परिग्रह ही है। इसी से समस्त दुर्ध्यान होते हैं। जीव समस्त अनीति परिग्रह की ममता के कारण ही करता है। परिग्रह की वांछा से हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील सेवन करता है। परिग्रह के प्रभाव से महा अभिमान करता है। परिग्रह के कारण मर जाता है, अन्य को मार देता है। नरकादि गतियों के दुखों का मूल कारण परिग्रह के प्रति मूर्छा का परिणाम ही है। जो समस्त पापों से छूटना चाहता है वह परिग्रह के प्रति विरक्त होता है। जिसके अन्तरंग में मिथ्यात्व परिग्रह का अभाव हो जाता है, उसके बाह्य परिग्रह में ममता नहीं होती।

बाह्य परिग्रह रहित दरिद्री तो स्वभाव से ही होता है। परन्तु अभ्यन्तर ममता छोड़ने को कोई समर्थ नहीं। इसलिये मूर्छा अर्थात् ममत्व परिणाम ही वास्तव में परिग्रह है। हे आत्मन्! समस्त संसार का मूल इस अंतरंग-बहिरंग परिग्रह को छोड़कर शीघ्र निर्ग्रन्थ दिगम्बरी दीक्षा धारण करें। मुनिधर्म रूपी नौका का अवलम्बन लिये बिना जीव संसार सागर से तिर नहीं सकता।"

ऐसा विचार कर वज्रकुमार ने माता-पिता से मुनि दीक्षा धारण करने की आज्ञा मांगी। उन्होने बहुत समझाया पर वह तो वज्र की तरह निर्णय कर चुका था। स्वार्थ भरे संसार से उनका मन विरक्त हो गया था। उन्होने अपने पिता मुनिराज सोमदत्त के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली पुनः दूसरी बार भी पिता के चरणों की शरण ही मिली। उग्र तपश्चरण के द्वारा उन्होंने चारण ऋद्धि प्रगट कर

ली । अहो ! धन्य पुरुषों के द्वारा ही ऐसा उग्र पुरुषार्थरूप आत्म-कल्याण का मार्ग अगीकार किया जाता है ।

(४)

अनादिकाल से जीव सर्वज्ञ-वीतराग के द्वारा प्रकाशित धर्म को नही जानता । इमलिये ऐसा ज्ञान नही कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? मैंने यहा जन्म नही लिया तब कैसा था ? यहां मुझे किसने उपजाया ? अब रात्रि दिवम आयु व्यतीत हो रही है अत: मुझे क्या प्रयोजन सिद्ध करना है ? मेरा हित क्या है ? मुझे आराधने योग्य क्या है ? इस पर्याय का क्या कर्तव्य है ? मरण का, जीवन का, भक्ष्य-अभक्ष्य का स्वरूप क्या है ? देव, गुरु, धर्म का स्वरूप क्या है ? जीवो के नाना प्रकार के सुख-दुख कैसे है ? इत्यादिक विचार रहित मोह-कर्मकृत अन्धकार से आच्छादित हो रहे हैं । उनके अज्ञानरूप अन्धकार को स्याद्वाद रूप परमागम के प्रकाश से **स्वरूप-पररूप का प्रकाश करना यही सच्ची धर्म प्रभावना है । ज्ञानी जीव इसी प्रकार धर्म प्रभावना करते हैं ।"**

उसी समय दक्षिण मथुरा मे पूतवाहन राजा राज्य करता था । उसकी पट्टरानी उर्मिला सम्यक्त्व रत्न से सुशोभित थी । वह निरन्तर अनेक प्रकार से जिनधर्म की प्रभावना करती रहती थी । साधर्मियो क साथ स्नेह, उनके कष्ट दूर करना, धर्म का उद्योत करना, पथभ्रष्ट अज्ञानी जीवो को सन्मार्ग पर लगाना, शास्त्रादि पढना पढाना, शास्त्रदान करना, रथादिक महोत्सव करना, इत्यादिक अनेक प्रकार से वह धर्म की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्न करती रहती थी ।

इसी नगरी मे समुद्रदत्त नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था। समय पाकर धनदत्ता के गर्भ रहा। थोडे ही दिनो मे उसकी सारी सम्पत्ति विलीन हो गयी। अशुभ कर्मोदय से हथेली पर रखा सोना भी कोटि यत्न करने पर भी राख हो जाता है।

"अरे! इस चंचल सम्पदा पर मद और भरोसा करने जैसा नहीं है। यह तो क्षण में विद्युत के समान चमक कर विलीन हो जाती है।"

जब धनदत्ता के पुत्री का जन्म हुआ तो पिता को महान कष्ट हुआ और पुत्री की उत्पत्ति के तीसरे दिन वह ससार से चल बसा। पति की मृत्यु के छह महीने उपरान्त अशुभ कर्मोदय से धनदत्ता की भी मृत्यु हो गई। अहो! ससार के क्षणभगुर सयोगों का भरोसा नही।

**"विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग।
आयुष्य वह तो जल की तरंग॥
पुरन्दरी चाप, अनन्त रंग।
क्या रचिये जहां क्षण का प्रसंग?"**

माता पिता की मृत्यु के बाद वह बालिका दर-दर की भिखारिणी बन गई। गलियो मे पड़े जूठे अन्न के दाने चुन-चुन कर खाने लगी। उसके दु:खी जीवन को देखकर पत्थर भी पिघल जाते थे।

जिनागम के ज्ञाता, पापरूपी वन को जलाने वाले, सुमेरु पर्वत के समान धैर्यशाली, देहमात्र ही जिनके परिग्रह था ऐसे अभिनन्दन

और नन्दन नाम के दो मुनि चर्या करते हुए उसी रास्ते से जा रहे थे । उनकी दृष्टि उस कन्या पर पड़ी । उन्होने निमित्तज्ञान से जानकर कहा—"अहो ! ससार की स्थिति विचित्र है । देखो ! यही होनहार कन्या जो झूठा खा-खा कर उदर भर रही है, भविष्य में राजा पूतवाहन की पट्टरानी होगी ।"

मुनिराजो के इन वचनो को एक बौद्ध धर्मानुयायी ने सुन लिया । उसने सोचा जैन ऋषियो के वचन अन्यथा नही होते । अत. इस कन्या का पालन करना चाहिये । इसे बौद्ध धर्म की शिक्षा देना चाहिये, इसके कारण अपनी भी उन्नति हो सकती है । ऐसा विचार कर वह उस कन्या को घर ले गया और उसका नाम बुद्धदासी रख दिया । युवावस्था आने पर उसने रति से बढकर सौन्दर्य प्राप्त किया ।

अपने अप्सराओ के तुल्य सौन्दर्य से जगत को मोहित करती हुई एक दिन वह बगीचे मे झूल रही थी । तभी राजा पूतवाहन की सवारी वहा से निकल रही थी । राजा उसके सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया । पश्चात् राजा के कहने मात्र से उसका विवाह राजा के साथ हो गया ।

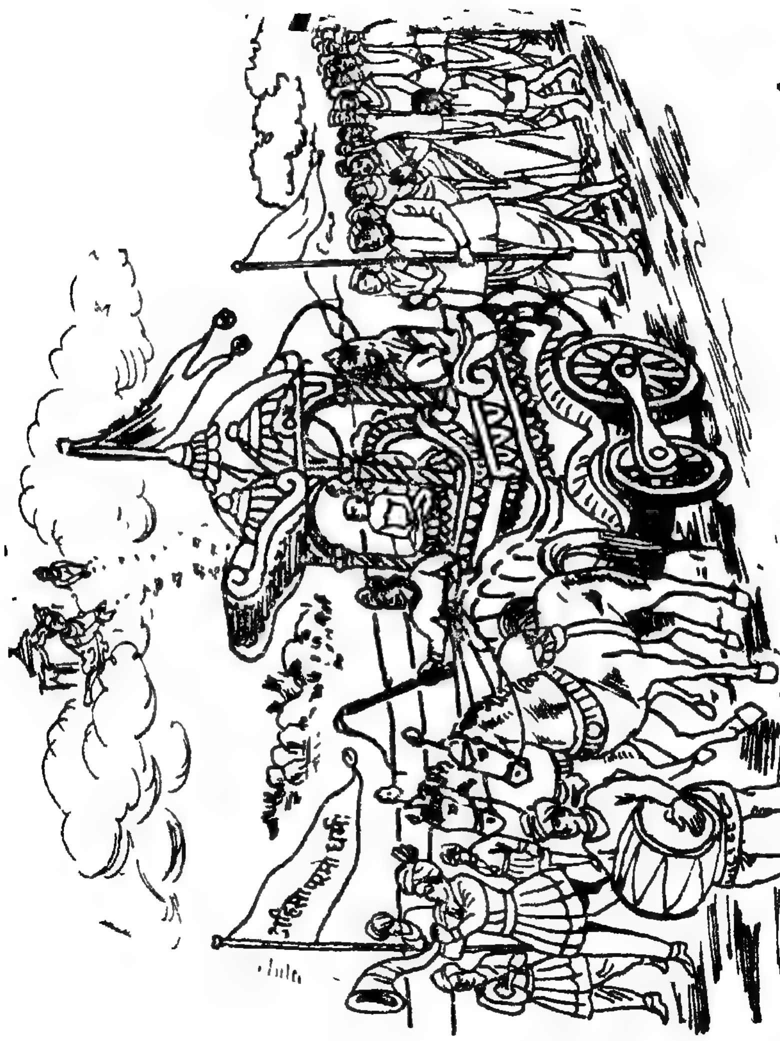
अहो ! एक सेठ की कन्या कर्मोदय से क्षण मे भिखारिणी से क्षण भर मे महारानी बन गई । राजा उसके भोग मे सब कुछ भूल गया तथा अन्य रानियो मे एव राजपाट से भी विमुख हो गया ।

हमेशा की तरह फाल्गुन मास मे अष्टान्हिका महापर्व आया । रानी उर्मिला ने आठ दिन तक चार प्रकार के दान पूर्वक व्रतोपवास किया । पूर्णिमासी के दिन भगवान के रथ-विहार करने का विचार स्थिर हुआ ।

राजा बुद्धदासी के आधीन था, अत: उसके कहने के अनुसार नगर मे ढिढोरा पिटवा दिया गया कि पहले बुद्ध का रथ निकलेगा और उनकी ही धूम-धाम से पूजा की जायेगी। पीछे जैन रथ जायेगा और उसकी पूजा भी पीछे ही की जायेगी। राजाज्ञा के अनुसार बुद्ध का रथ निकलने की समस्त तैयारी हो गई।

उर्मिला विचार मे पड गई कि जिनेन्द्र भगवान की सवारी पीछे निकले, यह तो धर्म का अपमान है। इससे तो जिनधर्म की अप्रभावना होगी। उसने जब तक जैन रथ पहले न निकले तब तक के लिये अन्न जल का त्याग कर दिया। राजा से कुछ कहना उसने उचित न समझा और वह सोच विचार कर आचार्य सोमदत्त के पास गई। अपने धर्म के अपमान की सम्पूर्ण बात उन्हे बता दी। "धर्म का अपमान सहन करने की सामर्थ मेरे मे नही है, अत: मेरा अन्नजल का त्याग है। हे भगवन्! इस समय आप ही धर्मरक्षा का उपाय बताये।"

आचार्य सोमदत्त ने मुनिराज वज्रकुमार को यह कार्य करने की आज्ञा दी। पश्चात् मुनिराज वज्रकुमार दिवाकर देव आदि अनेक विद्याधरों को साथ लेकर मथुरा नगरी मे आये। पहले तो उन्होने बुद्धदासी को समझाया कि अनादिकालीन धर्म की परम्परा को तोडना ठीक नही है, पर वह तो अपने राज्याभिमान मे चूर थी अत: उनकी बात न मानी। तब विद्याधरो ने राजा से युद्ध ठान दिया और क्षण में उसकी सम्पूर्ण सेना को परास्त कर दिया। राजा का अभिमान भी चूर-चूर हो गया और वह भयभीत होकर मुनिराज वज्रकुमार के चरणो मे लोट गया। सम्पूर्ण नगर-वासी भी उक्त


अहिंसा परमो धर्मः

घटना देखकर आतंकित हो गये और सोचने लगे कि राजा की विपरीत प्रवृत्ति से ही यह सब हुआ है।

पश्चात् उन विद्याधरों ने ही रथ निकालने की धूम-धाम से व्यवस्था की। जब जिनेन्द्र भगवान का रथ निकला तो चारों ओर विमान लिये विद्याधर उपस्थित थे मानो देवलोग ही रथोत्सव मनाने आये हों। आकाश से पुष्पवृष्टि हो रही थी। ध्वजाए आकाश को छू रही थी। भेरी, दुन्दुभी, घटा आदि अनेक वाद्य मधुर स्वर बज रहे थे। नगरवासी सर्वत्र जिनधर्म की जय-जयकार कर रहे थे। ऐसा लगता था मानो इन्द्र ही देवों सहित भगवान का कल्याणक मनाने आये हो।

इस प्रकार जिनधर्म की प्रभावना और आश्चर्य देखकर राजा और बुद्धदासी ने भी हजारो नर-नारियो सहित जैन धर्म स्वीकार कर लिया और मुनिराज वज्रकुमार की वन्दना की। उस दिन से नगर मे अकेला जिनेन्द्र भगवान का ही रथ धूम-धाम से निकलने लगा। इस प्रकार सर्वत्र जिनधर्म की प्रभावना हुई। धर्म प्रभावना होती देखकर उर्मिला बहुत प्रसन्न हुई और उसने बारबार मुनिराज को स्तुति और वदना की। सब ने उर्मिला का बहुत सम्मान किया। उस दिन से राजा भी उर्मिला की बात मानने लगा।

तदनन्तर धर्म प्रभावना का कार्य सम्पन्न कर मुनिराज वज्रकुमार एव सभी विद्याधर अपने-अपने स्थान को चले गये।

अहो! प्रभावना अग से अलकृत सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओ का जीवन सर्वस्व, धर्म-धर्मात्माओ की रक्षा उसकी वृद्धि एव उसकी सब प्रकार से प्रभावना मे ही समर्पित रहता है।

"चिन्मूर्ति मनरथ पंथ में, विद्यारथारूढ़ घूमना।
जिनराज ज्ञान प्रभाव कर, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥"

कथा-सार

* जो आलसी प्रमाद के कारण 'शुद्ध चिद्रूप' का ध्यान छोडकर अन्यकार्य मे लग जाते है, वे अमृत छोडकर विषपान करते हैं। जिस प्रकार रत्नों में चिन्तामणि, वृक्षो मे कल्पवृक्ष श्रेष्ठ है वैसे ही ध्यानो मे 'शुद्ध चिद्रूप' आत्मा का ध्यान सर्वश्रेष्ठ है।
* समस्त पापो की जड यह आरम्भ परिग्रह ही है। जोव समस्त प्रकार की अनीति, हिसादि पाप, महा अभिमान परिग्रह की ममता के कारण ही करता है। मूर्छा ही वास्तव मे परिग्रह है। बाह्य दरिद्री परिग्रह रहित तो स्वय ही होते हैं, परन्तु अन्तरग परिग्रह छोड़ने को कोई समर्थ नही है।
* स्वरूप-पररूप का प्रकाश करना यही सच्ची 'धर्म प्रभावना' है। ज्ञानी जीव निरन्तर धर्म प्रभावना के लिये प्रयत्न करते है। साधर्मियो के साथ स्नेह, उनके कष्ट निवारना शास्त्रो का पढना, पढाना, शास्त्रदान करना निरन्तर ज्ञान के प्रसार मे उद्यमशील रहना ही 'धर्म प्रभावना' है।
* जिसे उत्पन्न होते ही मुनिराज के चरणों की शरण मिली हो उसके धन्य भाग्य की क्या कहना।
* भेद विज्ञान के बिना यह आत्मा अनादिकाल से ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। भेद विज्ञान हो जाने पर शुद्धात्म दृष्टि से रहित यह जगत ऐसा जान पडता है मानो उन्मत्त और भ्रान्त हो। दिग्विमूढ होकर प्रगाढ निद्रा मे सो रहा हो।

❋ सम्यक्त्व चर्चा ❋

गुरु—हे भव्य ! यह आत्मा अनादिकाल से अनन्त दुखों को भोगता हुआ संसार मे परिभ्रमण कर रहा है। वहां अज्ञान के कारण इस जीव ने अनन्त बार विद्याभ्यास, अनन्त बार शास्त्र-श्रवण, अनन्तबार व्रतादि तपश्चरण तथा अनन्त बार मुनिपना भी धारण किया पर आज तक इसके दुखों का अन्त नही आया।

शिष्य—हे प्रभो ! इस दुखमय ससार से मुक्त होने का उपाय क्या है और आत्मा का हित किस बात मे है ? कृपा कर शीघ्र समझाइये।

गुरु भो आत्मन् ! आत्मा का हित तो मोक्षदशा प्रगट करने मे ही है, जहा आत्मा सादि अनन्तकाल तक निराकुल, अतीन्द्रिय, बाधारहित सुख पूर्वक रह सकता है। ससार मे रहकर सुख चाहना यह तो मृग मरीचिका से जल प्राप्त करने का निष्फल प्रयत्न है। हे शिष्य ! यदि संसार के दुखो से थकान लगी हो तो यह दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त कर शीघ्र आत्महित मे सावधान हो जाओ.... यह मनुष्य जन्मादि सामग्री बारम्बार नही मिलती।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस जीव के ससार से मुक्त होन का उपाय है। ज्ञानियो ने इसी को मोक्ष का मार्ग कहा है।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.।"[1]

१—मोक्षशास्त्र-१, सूत्र-१

शिष्य—हे करुणानिधि ! आपने हो अभी कहा था कि इस जीव ने अनत बार मुनिपने रूप चारित्र अगीकार किया तो भी इसकी मुक्ति नहीं हुई, इसका क्या कारण है ?

गुरु--भो आत्मन् ! जैसे बीज के बिना वृक्ष, नीव के बिना मन्दिर एव दीपक बिना प्रकाश नही होता वैसे ही सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्र भी कदापि नही होते। इसलिये सम्यग्दर्शन को ही 'दसण मूलो धम्मो'[1] धर्म का मूल कहा गया है। अत मरणतुल्य प्रयत्न करके भी सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये। वही कहा है—

तत्रादौ सम्यक्त्व समुपाश्रयणीय मखिल यत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञान चरित्र च ।।[2]

शिष्य—अहो ! मुझे तो इन बातो की खबर ही नही थी। मैं तो भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय मे ही तन्मय हो रहा था। हे प्रभो ! ऐसे कल्याणकारी सम्यग्दर्शन का स्वरूप आप विस्तार से समझाइये, जिसके बिना हमारे सुख प्राप्त करने के सम्पूर्ण प्रयत्न व्यर्थ गये।

गुरु—भली होनहार है तुम्हारी, जो तुम्हे इस निकृष्ट काल मे यह उत्कृष्ट बात सुनने का विचार आया। धैर्य पूर्वक सुनो, मैं तुम्हे विस्तार से सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताता हूँ।

तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम् ।[3]

१—दर्शनपाहुड गाथा—२
२—पुरुषार्थ सिद्धि उपाय श्लोक—२१
३—मोक्षशास्त्र अ.-१ सूत्र—२

"सात तत्त्वो के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते है ।" यही भाव पुरुषार्थसिद्धिउपाय मे कहा है—

जीवाजीवादीनां तत्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धान विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूप तत् ।।[1]

"विपरीताभिनिवेश (विपरीत अभिप्राय) रहित जीवाजीवादिक तत्त्वार्थ श्रद्धान वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है ।" जीव, अजीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष यह सात तत्त्वार्थ है । इनका जो श्रद्धान 'ऐसा ही है अन्यथा नही है' ऐसी प्रतीतभाव सो तत्त्वार्थ-श्रद्धान; विपरीत अभिनिवेश जो अन्यथा अभिप्राय उससे रहित सो सम्यग्दर्शन है ।

वह तत्त्वार्थश्रद्धान दो प्रकार का है, एक-सामान्य रूप, दूसरा-विशेष रूप ।

जो परभावो से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप को आपरूप से श्रद्धान करे उसे सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहते है । यह श्रद्धान तो नारकी तिर्यञ्चादि सर्व सम्यग्दृष्टि जीवो को होता है और जीव-अजीवादि सात तत्त्वो के भेदो को जानकर श्रद्धान करे उसे विशेष तत्त्वार्थ-श्रद्धान कहते हैं । यह श्रद्धान मनुष्य देवादि विशेष बुद्धिवान जीवो के होता है ।

पुण्य और पाप जो आश्रव के ही विशेष हैं उन्हे सात तत्त्वों में मिलाने पर नव-पदार्थ कहलाते है । अत. समयसार मे "यह जीवादि

१—पुरुषार्थसिद्धिउपाय श्लोक—२२

नव तत्त्व भूतार्थ से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं।"[1] —ऐसा कहा है।

शिष्य यहा भूतार्थनय से जाने हुए का क्या अभिप्राय है ?

गुरु—भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ, परमार्थ, शुद्ध, निश्चय। "वास्तव में निश्चय से इस आत्मा को अन्य द्रव्यो से एव अन्य द्रव्यों के भावों से पृथक् देखना—अनुभव करना—श्रद्धान करना वह नियम से सम्यग्दर्शन है।"[2]

अन्यत्र सम्यग्दर्शन की इससे मिलती जुलती अन्य परिभाषाऐ भी आयी है पर अतरग भाव सबका एक ही है।

"छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाच अस्तिकाय, सात तत्व यह जिन-वचन मे कहे है, उनके स्वरूप का जो श्रद्धान कर उसे सम्यग्दृष्टि जानना।"[3]

"तत्वरुचि वह सम्यग्दर्शन है।"[4]

"स्वानुभूति सहित श्रद्धा वह सम्यक्त्व का सर्वथा ठीक और अविरोधी लक्षण है।"[5]

बिना स्वार्थानुभव के जो श्रद्धा केवल सुनने से अथवा शास्त्र ज्ञान से ही है, वह तत्त्वार्थ के अनुकूल होने पर भी पदार्थ की उप-

---

१—समयसार गाथा—१३
२—समयसार कलश—६
३—दर्शन पाहुड गाथा—१९
४—मोक्ष पाहुड गाथा—३८
५—पञ्चाध्यायी श्लोक—४२३

लब्धि न होने से (अर्थात् आत्मा का अनुभव न होने से) श्रद्धा नहीं कहलाती।[1]

यदि श्रद्धादिक गुण स्वानुभूति के साथ हो तो वे गुण कहलाते हैं और बिना स्वानुभव के वे ही गुणाभास समझे जाते हैं।[2]

शिष्य—प्रभो ! आगम मे अनुभव को तो ज्ञान गुण की पर्याय कहा है, फिर उसका सम्यग्दर्शन के साथ क्या संबंध ?

गुरु—ठीक है, वह आत्मानुभूति आत्मा का ज्ञान विशेष है; परन्तु सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर ही आत्मा में शुद्ध अनुभव होता है, बिना सम्यग्दर्शन के शुद्ध अनुभव नहीं होता। इसलिये स्वानुभूति का सम्यग्दर्शन के साथ सर्वथा अविनाभावी सबध है, अतः स्वानुभूति को ही सम्यग्दर्शन कह दिया जाता है। सम्यग्दर्शन को जानने के लिये स्वानुभूति ही एक हेतु है।[3]

सम्यग्दर्शन के संबध मे सभी आचार्यों का एक मत है। योगसार मे मुनिराज योगेन्द्र देव कहते हैं—

"सर्व व्यवहार को छोड़कर आत्म स्वरूप मे रमण करता है वह सम्यग्दृष्टि है।" [4]

ज्ञानी गृहस्थो ने भी सम्यक्त्व का स्वरूप इसी प्रकार लिखा है–

"सत्य प्रतीति अवस्था जाकी;
दिन-दिन रीति गहै समता की।

१,२ ३—पञ्चाध्यी श्लोक—४२१, ४१५, एव ४०१ से ४०३

४—योगसार गाथा—८९

छिन-छिन करै सत्यको साको,
समकित नाम कहावै ताको ।।"[१]

पं. दौलतरामजी ने छहढाला मे लिखा है—
"पर द्रव्यनितै भिन्न, आपमें रुचि, सम्यक्त्व भला है ।"

शिष्य—हे गुरुदेव ! रत्नकरण्डश्रावकाचार मे तो सम्यग्दर्शन का लक्षण अन्य प्रकार से लिखा है—

गुरु—हा, वहां "सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरु का तीन मूढता रहित, नि:शकितादि अष्ट अग सहित तथा अष्ट मद रहित श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है"[२]—ऐसा कहा है ।

शिष्य—जो सप्त तत्व, नव पदार्थ एव आत्म श्रद्धान को आगम में सम्यग्दर्शन कहा है, वह यहा क्यो नही कहा ?

गुरु—क्योंकि निर्दोष बाधा रहित आगम के उपदेश बिना सप्त तत्वो का श्रद्धान कैसे हो ? और निर्दोष आप्त (देव) बिना सत्यार्थ आगम कैसे प्रगट हो ? इसलिये तत्वों के श्रद्धान का भी मूल कारण सत्यार्थ आप्त ही है । अत निमित्त कारण की मुख्यता से देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान को भी व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा है ।

शिष्य—सम्यग्दर्शन मे निज आत्मा कारण है या पर देव-शास्त्र गुरु ?

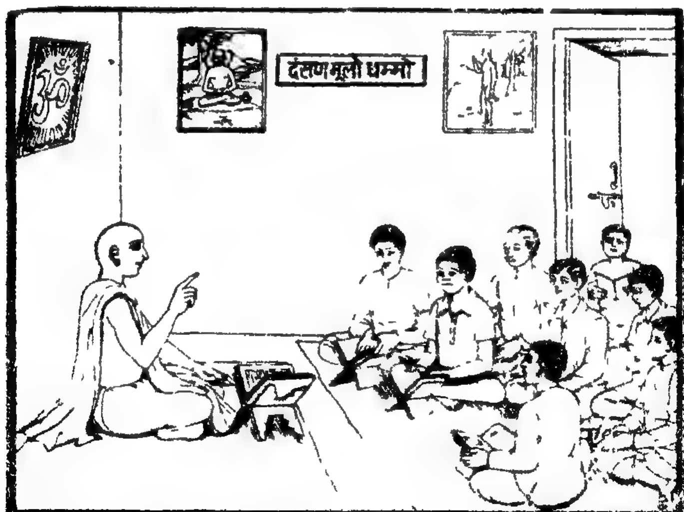
गुरु—मुख्यरूप से तो सम्यग्दर्शन में निज आत्मा ही उपादान कारण है, अत. जब निजात्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता

१—नाटक समयसार गु अ छन्द-२७
२—र क श्रा. श्लोक-४

है तब देव-शास्त्र गुरु के श्रद्धान को भी व्यवहार से निमित्त कारण कह दिया जाता है। इसी बात को आचार्य कुंद-कुंद ने इस प्रकार कहा है—

"जो जाणदि अरहंत दव्वत्त गुणत्त पज्यत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।"[1]

जो जीव अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने, पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है। (क्योंकि द्रव्य सामान्य की अपेक्षा अरहंत का आत्मा और हमारा आत्मा समान है।) और जो अपनी आत्मा को जानता उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है। और जिसका मोह नष्ट हो जाता है वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है।



शिष्य—तत्वार्थ श्रद्धान, आपा पर का श्रद्धान, आत्म श्रद्धान व

१—प्रवचनसार गाथा-८०

देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण कहा तो हम कौन सी लक्षण पहले ग्रहण करें ?

गुरु—सच्ची दृष्टि से एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण हो जाता है। परन्तु इतना विशेष है कि पहले तो देवादिक का श्रद्धान हो, फिर तत्वों का विचार हो, फिर आपापार का चितवन करे, फिर केवल आत्मा का चितवन करे—इस अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर कोई जीव सिद्ध पद को भी प्राप्त करले।

सम्यग्दर्शन होने पर जैसे शरीरादि में अहबुद्धि है और वस्त्रादिक में परबुद्धि है, वैसे ही शरीरादिक में परबुद्धि और आत्मा में अहबुद्धि हो जाती है।[1]

शिष्य—आपने कहा था आत्मानुभव के बिना सम्यक्त्व नहीं होता तो प्रभो! उस आत्मानुभव का उपाय क्या ?

गुरु—"जब कोई सम्यक्त्वी पुरुष स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है, वहां प्रथम भेदविज्ञान स्वपर का करे, नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित केवल चैतन्य-चमत्कार-मात्र अपना स्वरूप जाने; पश्चात् पर का भी विचार छूट जाये, केवल स्वात्म विचार ही रहता है; वहां अनेक प्रकार निजस्वरूप में अहबुद्धि धरता है। चिदानन्द हूं, शुद्ध हूं, सिद्ध हूं, इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्द तरंग उठती है, रोमाच हो आता है, तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, वहां सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते है, दर्शन-ज्ञानादिक का व नय-प्रमाणादिक का भी विचार विलय हो जाता है।

१—मोक्षमार्ग प्रकाशक।

चैतन्य स्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापकरूप होकर इस प्रकार प्रवर्तता है जहां ध्याता-ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशा का नाम (आत्मा का) निर्विकल्प अनुभव है।"[1]

नाटक समयसार में अनुभव का स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याको नाम॥[2]

शिष्य—ऐसा अनुभव कौन से गुणस्थान से होता है?

गुरु—ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थान से ही होता है, परन्तु चौथे गुणस्थान मे तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानो में शीघ्र-शीघ्र होता है।[3]

बालक से लेकर सभी को उस शुद्धात्मा का अनुभव हो सकता है।[4]

शिष्य—समयसार मे लिखा है सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा का कारण है।

चेतन अचेतन द्रव्य का, उपयोग इन्द्रि समूह से।
जो-जो करे सद्दृष्टि वह सब निर्जरा कारण बने॥[5]

गुरू—विरागी का उपयोग निर्जरा के लिये ही है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि इन्द्रियो के द्वारा भोग भोगता हुआ दिखाई देता है तथापि उसे भोग सामग्री के प्रति राग नही है। जैसे रोगी रोग की पीडा को सहन नही कर सकता तब उसका औषधि इत्यादि के द्वारा

१—रहस्यपूर्ण चिट्ठी पृष्ठ-२
२—उत्थानिका-छन्द-१७
३—रहस्यपूर्ण चिट्ठी पृ -७
४—पञ्चाध्यायी श्लोक-४९०
५—समयसार गाथा-१९३

उपचार करता है, इसी प्रकार ज्ञानी को जब चारित्र मोह का उदय आकर पीड़ा करता है तब भोगोपभोग सामग्री द्वारा उपचार करता हुआ दिखाई है। किन्तु जैसे रोगी रोग को या औषधि को अच्छा नहीं मानता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्र मोह के उदय को या भोगोपभोग सामग्री को अच्छा नही मानता। रागद्वेष के बिना उदयागत कर्म फल देकर खिर जाते है और नवीन बन्ध नही होता इसलिये विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का कारण कहा है—

ज्यो जहर के उपभोग से भी, वैद्यजन मरता नही।
त्यो उदय कर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बधता नही ॥ [1]

शिष्य—ऐसे सम्यक्त्व को प्राप्त करने का अधिकारी कौन है ?

गुरू—इसका समाधान करते हुए प. टोडरमल जी लिखते है—"देखो, तत्वविचार की महिमा ! तत्वविचार रहित देवादिक की प्रतोति करे, बहुत शास्त्रो का अभ्यास करे, व्रतादि पाले, तपश्चरणादि करे उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नही, और तत्वविचार वाला जोव इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।" [2]

शिष्य—हे भगवन् ! अभी आपने जिस सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया वह सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है या उसके भी भेद है ?

गुरू—भो भव्यात्मन् ! आगम मे सम्यग्दर्शन के भी अनेक भेद किये है—१-निश्चय सम्यक्त्व २-व्यवहार सम्यक्त्व।

"सब द्रव्यो मे निज आत्मद्रव्य ही ध्यावने योग्य है ऐसा रुचि रूप श्रद्धान वह निश्चय सम्यक्त्व है, और उसका परम्पराय कारण देव-गुरू-धर्म की श्रद्धा वह व्यवहार सम्यक्त्व है।" [3]

१—समयसार गाथा-१९५

२—मो मा प्र पृष्ठ-२६०

३—परमात्मा प्रकाश अ. २ गाथा-१५

"विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान रूप आत्मा का परिणाम वह तो निश्चय सम्यक्त्व है तथा विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान को कारणभूत श्रद्धान सो व्यवहार सम्यक्त्व है।"[1]

सरागसम्यक्त्व और वीतरागसम्यक्त्व के हिसाब से भी सम्यक्त्व के दो भेद किये गये है---

"प्रशम अर्थात् शान्तिपना, सवेग अर्थात् जिनधर्म की रुचि तथा जगत से अरुचि, अनुकपा अर्थात् दुखी जीवो पर दयाभाव और पर अस्तिक्य अर्थात् देव-गुरु-धर्म की तथा छह द्रव्यो की श्रद्धा इन चारों का होना वह व्यवहार सम्यक्त्व रूप सरागसम्यक्त्व है, और वीतराग सम्यक्त्व जो निश्चय सम्यक्त्व वह निज शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग चारित्र मे तन्मयी है।"[2]

शिष्य—प्रभो! क्या सम्यक्त्व भी सराग और वीतराग होता है?

गुरु—नही, सराग और वीतराग तो चारित्र के भेद है अतः जो सम्यक्त्व सरागरूप चारित्र के साथ रहता है, वह सराग कहलाता है और जो सम्यक्त्व वीतराग रूप चारित्र के साथ रहता है वह वीतराग कहलाता है। इसीलिये परिभाषा मे वीतराग सम्यक्त्व को वीतराग चारित्र से तन्मयी कहा है, अत. सराग सम्यक्त्व, सराग चरित्र मे तन्मयी हुआ।

दर्शन मोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के कारण से सम्यग्दर्शन में तीन भेद पडते है---

१—मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ.-३३०
२—प प्र. अ. २ गाथा-१७

१---उपशम सम्यग्दर्शन ।
२---क्षयोपशम सम्यग्दर्शन ।
३---क्षायिक सम्यग्दर्शन ।

"सम्यग्दर्शन गुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियो मे से देश-घाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर जो आत्मा के परिणाम होते है, उसको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते है ।

तीन दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व तथा चार अनतानुबधी कषाय इन सात प्रकृतियो के उपशम से औपशमिक और सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है ।" [1]

आत्मानुशासन मे आज्ञासम्यक्त्वादि दस भेद किये हैं वे इस प्रकार से है---

१--**आज्ञा सम्यक्त्व**---जिन आज्ञा मानने के पश्चात् जो श्रद्धान हुआ वह आज्ञा सम्यक्त्व है ।

२--**मार्ग सम्यक्त्व**---निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन से तत्व श्रद्धान हो सो मार्ग सम्यक्त्व है ।

३--**उपदेश सम्यक्त्व**---उत्कृष्ट पुरुष तीर्थकरादिक उनके पुराणों के उपदेश से उत्पन्न जो सम्यग्ज्ञान उससे आगम समुद्र मे प्रवीण पुरुषो के उपदेशादि से हुई जो उपदेशदृष्टि वह उपदेश सम्यक्त्व है ।

४---**सूत्र सम्यक्त्व**---मुनि के आचरण के विधान को प्रतिपादन करने वाला जो आचार सूत्र उसे सुनकर श्रद्धान करना वह सूत्र सम्यक्त्व है ।

१--गोमटसार जीवकाण्ड गाथा---२५-२६

५—बीज सम्यक्त्व—बीज जो गणित ज्ञान को कारण उनके द्वारा दर्शनमोह के अनुपम उपशम के बल से दुष्कर है जानने की गति जिसकी ऐसा पदार्थों का समूह, उसकी, हुई है श्रद्धानरूप परिणति जिसके ऐसा करणानुयोग का ज्ञानी भव्य उसको बीज सम्यक्त्व जानना।

६—संक्षेप सम्यक्त्व—पदार्थों को सक्षेप से जानकर जो श्रद्धान हुआ वह सक्षेप सम्यक्त्व कहलाता है।

७—विस्तार सम्यक्त्व—द्वादशाग वाणी को सुनकर की गई जो रुचि-श्रद्धान वह विस्तार सम्यक्त्व है।

८—अर्थ सम्यक्त्व—जैन शास्त्र के वचन के सिवा किसी अर्थ के निमित्त से हुआ जो श्रद्धान वह अर्थ सम्यक्त्व है।

९—अवगाढ़ सम्यक्त्व—श्रुतकेवली के जो तत्व श्रद्धान है उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते है।

१०—परमावगाढ़ सम्यक्त्व—केवलज्ञानी के जो तत्व श्रद्धान होता है वह परमावगाढ सम्यक्त्व कहलाता है।[१]

हे भव्य! ऐसे सर्वोत्कृष्ट कल्याण के हेतु भूत सम्यग्दर्शन को पच्चीस दोषा से रहित एव अष्ट अग सहित धारण करो।

शिष्य—हे गुरुदेव! वह सम्यक्त्व के पच्चीस दोष कौन-कौन से हैं जो सम्यक्त्व को दूषित करते है?

१—आत्मानुशासन छन्द-१२-१३-१४

गुरु—आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन और आठ शकादिक दोष—इस प्रकार पच्चीस सम्यक्त्व के दोष है, जिन्हें छोड़ना चाहिये ।

आठ मद

१—**कुल-मद**— पिता आदि पितृपक्ष मे राजादि प्रतापी पुरुष होने से अभिमान करना सो कुल-मद है ।

२—**जाति-मद**—मामा आदि मातृपक्ष मे राजादि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान करना सो जातिमद है ।

३—**रूप-मद**—शारीरिक सौन्दर्य का मद करना वह रूप-मद है ।

४—**ज्ञान-मद**—अपनी विद्या का या शास्त्र ज्ञान का अभिमान करना सो ज्ञान-मद है ।

५—**धन-मद**—अपनी धन-सम्पत्ति का अभिमान वह धन-मद कहलाता है ।

६—**बल-मद**—अपनी शारीरिक शक्ति का गर्व करना वह बल-मद है ।

७—**तप-मद** मिथ्यात्व के कारण अपने खोटे व्रत-उपवासादि तप का गर्व करना वह तप-मद है ।

८—**प्रभुता-मद**—अपने बडप्पन और आज्ञा का घमण्ड करना वह प्रभुता का मद कहलाता है ।

तीन मूढ़ता

१—कुगुरु की सेवा २—कुदेव की सेवा ३—और कुधर्म की सेवा करना, यह तीन मूढता नामक दोष है ।

सच्चे देव-गुरु-धर्म का स्वरूप जानने वाले सम्यग्दृष्टि के यह मूढताए नही होती ।

छह अनायतन

(१) कुगुरु (२) कुदेव (३) कुधर्म, (४) कुगुरु सेवक (५) कुदेव सेवक (६) कुधर्म सेवक—यह छह धर्म के अनायतन (अस्थान) है। सम्यग्दृष्टि जीव इन छहो की विनय, भक्ति पूजादि तो दूर, किन्तु उनकी प्रशसा भी नही करता।

वह जिनेन्द्रदेव, वीतरागी गुरू और दयामय धर्म या जिनवाणी के अतिरिक्त अन्य कुदेवादिक को भय से, आशा से लोभ से या स्नेहादि के कारण भी नमस्कार-वन्दना नही करता, इनकी अनुमोदना करने मात्र से भी सम्यक्त्व मे दूषण लगता है।

शंकादिक आठ दोष

१--**शका**—सर्वज्ञदेव के कहे हुए तत्वो मे सशय—संदेह उत्पन्न करना वह शका है।

२—**कांक्षा**—धर्म को धारण करके भी सासारिक सुखो की इच्छा करना वह काक्षा है।

३—**विचिकित्सा**—मुनियो के मलिन शरीरादि को देखकर घृणा करना वह विचिकित्सा है।

४—**मूढ़दृष्टि**—सच्चे और झूठे तत्व एव देव-गुरू-धर्म की पहिचान न करना वही मूढदृष्टि है।

५—**अनुपगूहन**—अपने गुणो को एव दूसरे के अपगुणो को न छिपाना और उनका बखान करना वह अनुपगूहन है।

६—**अस्थितिकरण**—कामादिक विकार के कारण धर्म से च्युत

होते हुए अपने को तथा पर को पुन. धर्म मे दृढ न करना अस्थिति-करण है।

७--**अवात्सल्य**—साधर्मीजनो के प्रति एवं धर्म-धर्मायतनो के प्रति प्रीति का परिणाम न होना वह अवात्सल्य है।

८—**अप्रभावना**—जिनधर्म एव रत्नत्रय की वृद्धि मे उपयोग न लगाना सो अप्रभावना है।

सम्यग्दृष्टि जीव इन आठ प्रकार के दोषो से रहित एव इनसे विपरीत नि शंकितादि आठ गुणो से युक्त होता है। यह अष्ट गुण सम्यग्दर्शन को अलकृत करने वाले है। जिस तरह आख नाक कानादि अग परिपूर्ण होने पर शरीर शोभा को प्राप्त होता है। उसी तरह अष्ट अग सहित सम्यग्दर्शन शोभा को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन के अष्ट अंग

१—**निःशंकित अंग**—'तत्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नही है तथा अन्य प्रकार से भी नही है—इस प्रकार यथार्थ तत्वो मे अचल श्रद्धा होना सो नि शकित अग कहलाता है।

२—**नि कांक्षित अंग**—धर्म सेवन करके इस भव सबधी एव परभव सबधी भोगो को वांछा न होना वह नि कांक्षित अग कहलाता है।

३—**निर्विचिकित्सा अग**—मुनिराज एव अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर घृणा न करना उसे निर्विचित्सा अग कहते हैं।

४—**अमूढ़दृष्टि अंग**—सच्चे और झूठे तत्वो की एवं देव, गुरू, धर्म की परीक्षा करके मूढ़ताओ एवं अनायतनो मे न फसना वह अमूढदृष्टि अग है ।

५—**उपगूहन अंग**—अपनी प्रशसा कराने वाले गुणो को तथा दूसरे की निन्दा कराने वाले दोषो को ढकना और आत्मधर्म को बढाना सो उपगूहन अग है ।

६—**स्थितिकरण अंग**—काम, क्रोध, लोभ आदि किसी भी कारण से सम्यक्त्व और चारित्र धर्म से भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा पर को पुनः धर्म मे स्थिर करना वह स्थितिकरण अग है ।

७—**वात्सल्य अंग**—साधर्मीजनो के प्रति गौ-बच्छ प्रीति सम नि स्वार्थ प्रेम रखना वह धर्मी का वात्सल्य अग है ।

८—**प्रभावना अंग**—अज्ञान-अन्धकार को दूर कर के विद्या-बल-बुद्धि आदि के द्वारा शास्त्र मे कही हुई योग्य रीति से अपने सामर्थ्यानुसार जैन धर्म का प्रभाव प्रकट करना, वह प्रभावना अग कहलाता है ।

इन अष्ट अगो के धारण करने मे जो-जो प्रसिद्ध हुए है उनका वर्णन पीछे कथानको मे किया गया है ।

शिष्य—ऐसे पच्चीस दोषो से रहित एव अष्ट अग सहित शुद्ध सम्यग्दर्शन के धारी जीव की उत्पत्ति कहा-कहा नही होती, एव वह कहा उत्पन्न होता है ?

गुरु—जो जीव सम्यग्दर्शन के धारी हैं वे व्रतरहित होने पर भी

नारकीपना, तिर्यञ्चपना, नपसुकपना एव स्त्रीपना को प्राप्त नहीं होते, और नीच कुल में जन्म, विकृत अर्थात् लूले, लगडे, अधे, गूंगे बावने, हीन अग, अधिक अग, विरूप नही होते तथा अल्प आयु के धारक और दरिद्री नही होते है। अव्रत सम्यग्दृष्टि के इकतालीस कर्म की प्रकृतियो का तो सर्वथा बध ही नही होता।[1]

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, बुद्धि, विजय और अनेक वैभव से सम्पन्न मनुष्यो का तिलक होता है।[2]

मनुष्यभव से स्वर्ग लोक मे अप्रमाण ऋद्धि, शक्ति, सुख, वैभव सहित देवेन्द्रो के समूह मे उत्पन्न होता है, वहां से चक्रवर्ती, फिर अहमिद्र लोक का स्वामी और अन्त मे तीर्थकरो के धर्मचक्र को प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त करते है।[3]

इस प्रकार सम्यक्त्व की महिमा जानकर हे भव्यजीवो! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत का पान करो।

यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भण्डार है, सर्व कल्याण का बीज है और ससार समुद्र से पार उतारने के लिये जहाज है। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये कुल्हाडी है। तीर्थों मे यह एक पवित्र तीर्थ है और मिथ्यात्व का शत्रु है।[4]

जिन पुरुषो ने मुक्ति को करने वाले सम्यक्त्व को स्वप्नावस्था मे भी मलिन नही किया, अतीचार नही लगाया उन पुरुषो को धन्य

१, २, ३—रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक-३५, ३६, एव ४२

४—ज्ञानार्णव श्लोक-५८

है। वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर है, वे ही पंडित है। इसके बिना मनुष्य पशु समान है। [1]

बहुत कहने से क्या साध्य है? जो नरप्रधान अतीतकाल में सिद्ध हुए है और आगामी काल मे सिद्ध होगे वह सब सम्यक्त्व का ही महात्म्य जानो। [2]

काल अनादि है, जीव भी अनादि है, ससार-समुद्र भी अनादि-अनत है, उसमे इस जीव ने जिन स्वामी और सम्यक्त्व यह दो चीजें प्राप्त नही की। [3]

जिसके हाथ चिन्तामणि है, धन में कामधेनु है और जिसके घर मे कल्पवृक्ष है, उसे अन्य किसकी प्रार्थना की आवश्यकता है? परन्तु चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष तो कहने मात्र के हैं, सम्यग्दर्शन ही वास्तविक चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष है—ऐसा जानना। [4]

जैसे नगर की शोभा द्वार से है, मुख की शोभा चक्षु से है, वृक्ष की स्थिरता मूल से है, इसी तरह, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की शोभा भी सम्यग्दर्शन से है। [5]

१—मोक्ष पाहुड. गाथा-८९

२—मो पा, गा.-८८

३—परमात्मा प्रकाश अ. २ गाथा-१४३

४—प प्र अ. २, गा.-१५

५—भगवती आराधना गाथा-७४०

यदि चारित्र और ज्ञान से रहित एक ही वह सम्यग्दर्शन है तो वह अकेला भी प्रशसनीय है। परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यात्व-रूप विष से दूषित चारित्र और ज्ञान भी प्रशसनीय नही है।

जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन हो चुका है, उस पवित्र आत्मा को मैं मुक्त हुआ ही मानता हू। तथा उस सम्यग्दर्शन के साथ विशेष ज्ञान के न होने पर भी जीव केवल ज्ञान को प्राप्त करके मोक्षपद को पा लेता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना संयम और राग-द्वेष का उपशम ये दोनों भी निर्जीव (मुर्दा) से प्रतीत होते हैं।[1]

सम्यग्दर्शन सहित नरक वास भी भला किन्तु सम्यग्दर्शन रहित स्वर्ग का वास भी सुखदायी नही है।[2]

भेद विज्ञान जग्यौ जिन्हेक घट,
शीतल चित्त भयौ जिमि चन्दन।
केलि करे शिवमारग मे,
जगमाहि जिनेश्वर के लघु नन्दन॥
सत्य स्वरूप सदा जिन्हके,
प्रगट्यो अवदान मिथ्यात निकन्दन।
शानदशा तिनकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वन्दन॥[3]

१—ज्ञानार्णव श्लोक-५३ ५४, ५६

२—सारसमुच्चय-श्लोक-३९

३—नाटक समयसार।

दोष रहित गुण सहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजे हैं।
चरित्र मोह वश लेश न संयम, पै सुरनाथ जजे है ।।

तीन लोक तिहुकाल माहि नहि, दर्शन सो सुखकारी ।
सकल धर्म को मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी ।।

मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा ।
सम्यक्ता न लहै; सो दर्शन, धारो भव्य पवित्र ।।

"दौल" समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै ।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है जो सम्यक् नहि होवे ।।[1]



समकित कारज करना रे

विनोद 'चिन्मय'

जिया समकित कारज करना रे ।
पर द्रव्यन पर भावन से तू प्रीति न किंचित् करना रे ।
स्वातम को तू लक्ष्य बनाकर, उससे नाता करना रे ।।
पर को पर, निज को निज तू जान, स्वयं मे रमना रे ।
राग द्वेष यह पर वृत्ति है लक्ष्य न इनका करना रे ।।
ज्ञायक स्वभाव मे दृष्टि करके शीघ्र स्वयं भव तरना रे ।
'चिन्मय' सुख चाहो सिद्धन सा शीघ्र स्वयं मे जमना रे ।।
समकित कारज करना रे
जिया समकित कारज करना रे ।

१—छहढाला तीसरी ढाल ।

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की नामावली

१.	श्री महावीर प्रसादजी सरावगी कलकत्ता	५००/-
२.	श्री इन्द्रसेनजी शहदरा दिल्ली	२००/-
३.	श्री मोतीलालजी खेरुआ वाले विदिशा (म. प्र.)	१०१/-
४.	श्री मति कपूरी बाई विदिशा	१०१/-
५.	श्री मति अयोध्याबाई विदिशा	१०१/-
६.	श्री हृदयमोहनजी जैन विदिशा	१००/-
७	श्री गुलाबचन्दजी जैन बडकुल विदिशा	१००/-
८.	श्री अमृतलालजी हिरनई विदिशा	१००/-
९.	श्री जयकुमारजी विदिशा	५१/-
१०.	श्री पूनमचन्दजी मील वाले विदिशा	१००/-
११	श्री मोनीलालजी राजेन्द्रकुमारजी विदिशा	१००/-
१२.	श्रीमति गुणमाला पुत्री श्री बाबूलालजी विदिशा	१००/-
१३.	श्री मति बेटीबाई विदिशा	५२/-
१४	श्री नन्दनकुन्दनलालजी विदिशा	१००/-
१५	गुप्तदान, हस्ते बाबूलालजी प्रकाशचद जैन	१००/-
१६.	सौनाबाई धर्म पत्नी श्री मनूलालजी	१००/-
१७.	चौधरी सुन्दरलालजी विदिशा	१००/-
		कुल २१०६=००